

साहित्यिक ग्रन्थमाला संख्या ३

हिन्दी-काव्य की कोकिलाएँ

[हिन्दी की स्त्री-कवियों का साहित्यिक परिचय
और उनकी मनोमोहक कविताओं का
थालोचनारमक चयन]

लेखक

श्रीयुत गिरिजादत्त शुक्ल, बी० ए०
श्रीयुत ब्रजभूपल शुक्ल, विशारद

प्रकाशक

साहित्य-मन्दिर

दारागंज, प्रयाग

प्रथम बार } ,

१९३३

{ मूल्य २)

प्रकाशक
भगवतीप्रसाद वाजपेयी
मालिक, साहित्य-मन्दिर,
दारागंज, प्रयाग ।



मुद्रक
भगवतीप्रसाद वाजपेयी
साहित्य-भूषण प्रेस,
दारागंज, प्रयाग

प्राक्कथन

हिन्दी-साहित्य के स्वरूप-निर्माण में हमारे देवियों ने जो भाग लिया है, उसकी ओर हिन्दी के समालोचकों का

ध्यान अभी विशेष रूप से नहीं आकृष्ट हुआ था। इस ग्रंथ के लेखकों ने इस अभाव की पूर्ति का उद्योग किया है, यह संतोष की बात है।

प्रस्तुत आलोचनात्मक संग्रह में जिस शैली का अनुसरण किया गया है वह कवयित्रियों की रचनाओं के अध्ययन में विशेष सहायक होगा। जहाँ तक मुझे स्मरण है, हिन्दी के पुरुष कवियों की कविताओं का भी ऐसा कोई आलोचनात्मक संग्रह नहीं है, जिसमें किसी प्रकार के वर्गीकरण का प्रयत्न किया गया हो, अथवा उनकी कविताओं की प्रवृत्तियों की आलोचना की गयी हो। ऐसी दशा में यह आलोचनात्मक संग्रह न केवल स्त्री-कवियों के एक आलोचनात्मक काव्य-संग्रह के अभाव की पूर्ति करेगा, वरन् पुरुष-कवियों के काव्य-संग्रह-प्रणयन के क्षेत्र में पथ-प्रदर्शक का काम करेगा। आलोचना में जो निष्कर्ष निकाले गये हैं वे सप्रमाण हैं; भाषा संयत और गम्भीर है। एक बहुत बड़ी विशेषता, जिसने मेरा ध्यान आकृष्ट किया है, यह है कि प्राचीन कवयित्रियों की त्रुटियों की जानकारी से जहाँ नवीन कवयित्रियों

को काव्य-त्रुटियों का व्यापक रूप से ज्ञान होगा, वहाँ अपने गुण-दोषों के भी सहृदयतापूर्ण संकेत से वे अपनी रचनाओं की दिशा में आवश्यकतानुसार संशोधन कर सकेंगी ।

अंत में इस पुस्तक के लेखकों को, ऐसी सुन्दर पुस्तक के प्रणयन के लिए, मैं बधाई देता हूँ ।

२६-८-३३

हृषीकान्त भास्कर

समर्पण

—०:-०—

श्रीमती चन्दाबाई जैन की सेवा में—

श्रीमती जी;

आप के आदर्श चरित्र, लोक-सेवानुराग और आत्मत्याग ने हमारे हृदय में जो श्रद्धा-भाव उत्पन्न किया है उसके फल-स्वरूप हमारी यह क्षुद्र भेंट श्रीचरणों में स्वीकार कीजिए ।

भवदीय कृपाभिलाषी—

गिरिजादत्त शुक्ल

ब्रजभूषणशुक्ल

निवेदन

अपनी देवियों की कविताओं के इस आलोचनात्मक संग्रह को पाठकों के कर-कमलों में प्रस्तुत करने का प्रधान उद्देश्य यह है कि उनकी प्रतिभा और कला-रसिकता के सम्बन्ध में हिन्दी-प्रेमियों का ज्ञान अधिक विस्तृत हो सके। इस ग्रंथ में यत्र-तत्र तथ्य बातों के निवेदन में स्पष्टता से काम लेना पड़ा है; परन्तु पाठक-पाठिकाएँ विश्वास रखें कि वह कठोर कर्त्तव्य की प्रेरणा से ही सम्भव हुआ है। वास्तव में सम्पूर्ण पुस्तक का अवलोकन करने पर यह बात हृदयंगम हुए बिना नहीं रहेगी कि हमने अपने अधिकार का दुरुपयोग नहीं किया है।

हमने इस बात ध्यान रक्खा है कि हिन्दी-काव्य के क्षेत्र में क्रियाशील तथा प्रसिद्धि-प्राप्त प्रत्येक वर्तमान-कालीन देवी की रचना का नमूना भी पाठकों के सम्मुख आ जाय। इस उद्योग में हमने विशेष रूप से पत्र-पत्रिकाओं से सहायता ली है। अनेक संदेह-जनक बातों के स्पष्टीकरण के लिए लेखिकाओं से हमने पत्र-व्यवहार भी किया है, और यदि संभव हो सका है तो, स्वयं मिलकर भी जानकारी प्राप्त की है। इतना श्रम करने पर भी भ्रम और प्रमाद की आशंका से हम अपने हृदय को मुक्त

नहीं कर सकते । यदि हमारे पाठक कुछ अन्य देवियों की रचनाओं से हमें सूचित करेंगे, तो उनकी कृपा के लिए हम आभारी होंगे और अगले संस्करण में अवश्य ही उनकी सहायता का उपयोग करके उचित संशोधन और परिवर्द्धन करेंगे ।

दारागंज, }
प्रयाग

गिरिजादत्त शुक्ल
ब्रजभूषण शुक्ल

विषय-सूची

—ॐ—

विषय

१—भूमिका-भाग

पृष्ठ

...

...

१-८

प्रथम भाग

२—मीराक्षि

...

...

...

१

३—प्रवीणराम

...

...

...

१८

४—ताज

...

...

...

२४

५—शेखर

...

...

...

३०

६—रसिकविहारी

...

...

...

३२

७—सहजोबाई और दयाबाई

...

...

...

४५

८—सुन्दरकुर्वरि बाई

...

...

...

५७

९—प्रतापकुर्वरि बाई

...

...

...

६२

१०—बाघेली विष्णुप्रसाद कुर्वरि

...

...

...

६७

११—चन्द्रकला

...

...

...

७२

१२—गिरिराज कुर्वरि

...

...

...

७८

१३—श्रीगुणप्रिया

...

...

...

७८

१४—रामप्रिया

...

...

...

...

विषय	पृष्ठ
१५—रानी रघुवंशकुमारी	१०
१६—सरस्वती देवी	१५

द्वितीय भाग

१७—राजरानी देवी	१०१
१८—गुजररातीपाई	१०६
१९—गोपाक्षदेवी	११६
२०—कीरतिकुमारी	१२२
२१—तोरनदेवी 'छलो'	१२५
२२—सुभद्राकुमारी चौहान	१३३

तृतीय भाग

२३—महादेवी चम्पा	१७०
२४—रामेश्वरी देवी मिश्र 'चबोरी'	१६६
२५—पुरुषार्थवती देवी	२२०
२६—राजराजेश्वरी देवी 'नलिनी'	२३२
२७—तारादेवी पांडेय	२४६
२८—रामेश्वरी देवी गोयल	२६०
२९—विष्णुकुमारी श्रीवास्तव 'मञ्जु'	२६६
३०—रत्नकुर्वरि देवी	२७३
३१—लीलावती अवर 'सत्य'	२७७
३२—अवशेष	२८१

❀ चिह्नित देवियों के चित्र भी दिये गये हैं ।

हिन्दी-काव्य की कोकिलाएँ

प्रथम भाग

मीराँ



प्रकृति ने पुरुषों को प्रखर और स्त्रियों को कोमल व्यक्तित्व प्रदान करके उत्पन्न किया है। इसी कारण शासन, युद्ध और राजनीति के अधिकांश कार्य पुरुषों द्वारा ही सुचारु रूप से सम्पन्न होते हैं; यद्यपि इन कार्यों में स्त्रियों ने भी यथेष्ट भाग लिया है। इसी प्रकार प्यार, दया, क्षमा, शान्ति, कष्ट-सहन, त्याग आदि भावों को नारी माँ के गर्भ में ही धारणकर जन्म ग्रहण करती है; यद्यपि यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि पुरुषों में भी इन भावों का प्राचुर्य देखा गया है। जो हो, इसमें सन्देह नहीं कि, यदि पुरुष और नारी को अपने-अपने व्यक्तित्व का विकास करने के लिए उचित अवसर दिया जाय तो, पुरुष शासन और राजनीति तथा नारी कला की सेवा में सहज ही सफल हो सकती है। किन्तु जहाँ इस बात की सत्यता प्रायः असंदिग्ध है, वहाँ यह भी सच है कि नारी ने कला की सेवा में अपने आप को उतना दत्त-चित्त नहीं बनाया है जितना उसे बनाना चाहिए था। अवश्य ही इस भ्रुति

का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व नारी पर ही नहीं है; प्रकृति ने जहाँ उसे कला की सेवा के उपयुक्त सुकुमार हृदय प्रदान किया है वहाँ मातृ-धर्म-पालन का भार भी उसके कंधों पर डाला है। इस भार-बहन के अतिरिक्त नारी संघर्ष-व्यस्त जीवन-यात्रा में अपने आप को पुरुषों द्वारा निर्मित वातावरण के अनुकूल बनाने के लिए विवश है। इन दो बातों ने सभी कालों और सभी देशों में नारी की कला-सेवा पर प्रभाव डाला है।

हमारे प्राचीन आर्य ऋषि, जिनकी वाणी से संसार को ज्ञान की प्रथम उपलब्धि हुई, जीवन के बड़े मार्मिक समीक्षक थे। उन्होंने नारी और पुरुष के अन्योन्य सम्बन्ध को आध्यात्मिक स्वरूप प्रदान कर के समाज में नारी का बहुत ऊँचा और सम्मानित स्थान स्वीकार किया था; नहीं! सी बालिका हो, मुग्धा कुमारिका हो, अथवा वृद्धा तरुणी—पत्नी के अतिरिक्त उनकी दृष्टि में सभी माता थीं। वे समाज को उस ऊँचे शिखर पर आरुढ़ रखना चाहते थे, जहाँ काम-वासना की विषम वृद्धि नारी और पुरुष के स्वतंत्रतापूर्ण मिलन को रुग्ण, विषजनक और क्रमशः असम्भव नहीं बना देती। प्रमाद, और स्थूलन तो मानव-प्रकृति ही के साथ संलग्न है; ऋषियों-द्वारा व्यवस्थित समाज में भी उनके अस्तित्व का लोप नहीं हो सकता था। किन्तु, अपराध करके भी उस काल में अपने को निरपराध घोषित करने की, समल होकर भी अपनी निर्मलता सिद्ध करने की प्रवृत्ति नहीं थी; सभी की दृष्टि सत्य की ओर रहती थी; सदाचार की आराधना की जाती थी। ऐसी ही सुव्य-

वस्था में वैदिक मंत्रों के आविष्कार में ऋषियों को देवियों का भी सहयोग मिल सका था ।

आर्य संस्कृति से स्पर्धा कराने वाला बौद्ध संस्कृति ने समाज में नारी का स्थान तो उतना ही ऊँचा रखा, किन्तु उसने अनेक मनोवैज्ञानिक तत्त्वों की उपेक्षा करके मानव-हृदय को ऐसे सँकरे रास्ते से चलने के लिए विवश किया जो आगे चलकर संकट-जनक हो गया । विहारों में पुरुषों के साथ नारियों का प्रवेश स्वीकार करते समय महात्मा बुद्ध ने विकसित मानवता की ज्ञान-पिपासा का ख्याल शायद अधिक और उसकी अनिवार्य दुर्बलता की कल्पना कम की । जो हो, भिक्षुओं और भिक्षुनियों का अबाध, अमर्यादित मिलन अनाचार का जनक हो गया । इस परिस्थिति ने जो प्रतिक्रिया उत्पन्न की उसने नारी और पुरुष के सामाजिक मिलन और पारम्परिक सहयोग के पथ को कंटकाकीर्ण कर दिया ।

स्वामी शंकराचार्य ने एक बार फिर आर्य-संस्कृति का डंका भारतवर्ष में बजा दिया । लेकिन मुसलमानों के इस देश में प्रवेश करने के कारण क्रमशः राजनैतिक परिस्थिति ऐसी बिगड़ चली थी कि उनके कार्य में स्थिरता और सुदीर्घ काल-व्यापी सुव्यवस्था का संचार नहीं हो सका । मुसलमानों के आक्रमणों द्वारा प्रस्तुत की जानेवाली अड़चन के साथ-साथ बौद्ध धर्म के हास के समय तथा उसके बाद भी मानव-संस्कृति पर उसके अस्वाभाविक नियंत्रण के विरुद्ध जो प्रबल प्रतिक्रिया समाज के सम्मुख

उपस्थित हुई उसने ग़ंजार-रस को छोड़कर अन्य कोई काव्य-विषय कवियों के समुत्सव रहने नहीं दिया । चाहे पाली के कवियों को लीजिए, चाहे अपभ्रंश और संस्कृत के कवियों को देखिए—इस काल अथवा इसके लगभग के प्रायः सभी कवियों के काव्य में उन्मुक्त हृदय से ग़ंजार-रस की आराधना मिलेगी । महाराज हर्षवर्द्धन के देहावसान के बाद कोई ऐसा चक्रवर्ती भूपाल नहीं हुआ जो स्वामी शंकराचार्य के किये हुए कार्य को अपनी राजशक्ति की घुरी पर स्थापित कर सकता । भारतवर्ष से वारता उठ गयी हो, सो बात नहीं; पृथ्वीराज और उनके अनेक सामन्तों की शूरता तथा आल्हा-ऊदल आदि का अपार पौरुष संसार की किसी भी जाति का मुख उज्ज्वल कर सकता है । किन्तु इनमें त्रुटि यह थी कि इन्होंने आर्य-संस्कृति के मूल दत्त को नहीं समझा और इसी कारण उसका लोप करनेवाले प्रवाह को रोकने के स्थान में ये उसका बल बढ़ाने ही में सयत्न हो गये । विलासिता के नशे में मतवाले होकर इन हिन्दू नरेशों ने नित्य नूतन सुन्दरियों की खोज में अपने सहस्रों, लाखों प्रिय योद्धाओं के प्राणों को कुछ नहीं समझा; इस विलासिता का मूल्य भी इन्हें राज्य गँवाकर देना पड़ा । फलतः हमारे समाज में नारी और पुरुष के सामाजिक सम्बन्धों को खोया हुआ सामञ्जस्य फिर से स्थापित नहीं किया जा सका; यही नहीं दोनों के बीच की दूरी और भी बढ़ गयी ।

पुरुष और नारी के अन्धोन्ध सम्बन्ध का धरातल बहुत अधिक नीचा हो जाने के कारण, साहित्य-निर्माण के क्षेत्र में भी दोनों

के सार्वजनिक सम्मिलन का कोई निरापद अवलम्ब नहीं रह गया था। फिर युद्ध और अशान्ति के उस प्रतिकूल वातावरण में, जब जीवन और प्रतिष्ठा का रक्षा का प्रयत्न हो हिन्दुओं का सम्पूर्ण शक्तियों का तकाजा करता था, देवियों की साहित्य-सेवा का सुमन एकान्त में भी प्रफुल्ल नहीं हो सकता था। हाँ, उस समय में भी आर्यधर्म का जितना भाव समाज में प्रचलित था उसकी रक्षा के लिए देवियों ने आत्मोत्सर्ग द्वारा, समय पड़ने पर समर-स्थली में अपने स्वयं का साथ देते हुए तथा कभी-कभी स्वयं ही सेनानेत्रों का पद धारण करके उस वीरता और धीरता का परिचय दिया, जो कलात्मक सृष्टियों का उपयुक्त विषय हो सकता है।

प्रकृति में संहार और निर्माण की प्रवृत्तियाँ निरन्तर कार्य करती रहती हैं। जब हिन्दू अपनी असंगठित अवस्था के कारण मुसलमानों के पाँव न उखाड़ सके तभी यह स्पष्ट हो गया कि आर्य-संस्कृति को एक विदेशी और अत्यन्त अधिक आवेशपूर्ण तत्त्व का सामना करना पड़ेगा। राजशक्ति के अवलम्ब से शून्य आर्य-संस्कृति असमर्थ हाथों में पड़कर समाज की दृष्टि से दूर होने लगी। किन्तु उसकी आकाश की तरह विस्तृत परिधि विदेशियों के एकदेशीय तत्त्वों को आत्मसन् करने में शीघ्र ही अप्रसर हुई। मुसलमानों के एकेश्वरवाद का उत्तर उसने वेदान्त के ब्रह्मवाद के रूप में दिया और इन्हीं दोनों का सामञ्जस्य महात्मा कबीरदास ने प्रस्तुत किया।

अनेक सदस्यों वर्ष पूर्व के आर्यों और महात्मा कबीरदास

के कार्य-क्षेत्र में अवतीर्ण होने तक के समय में हमारी भाषा के न जाने कितने उलट-फेर हुए। इस उलट-फेर की चर्चा में प्रवृत्त होने के लिए यहाँ उपयुक्त स्थान नहीं। इतना ही कहना उचित होगा कि महात्मा फ़ौरदास के समय में आकर विक्रम की सातवीं शताब्दी ही से विकासोन्मुख हिन्दी-भाषा काव्य-भाषा का स्थान ग्रहण करने के सर्वथा योग्य हो गयी थी। फ़ौर के समय में मुसलमानों के राज्य की नाँव भी सुदृढ़ हो चली थी; और दैनिक सम्पर्क की वृद्धि के कारण हिन्दू तथा मुसलमान संस्कृति के एकाकार का श्रीगणेश हो गया था।

फ़ौर का एकेश्वरवाद हिन्दू जनता को कुछ समय तक भले ही रुचा हो, किन्तु कालान्तर में उसके प्रति उसको अरुचि हो गयी। कबीर रामानन्द के शिष्य और वैष्णव थे। उन्होंने अपनी कविताओं में राम का गुणगान करने का प्रयत्न किया था, किन्तु वह राम अनन्त था, ऊपरिमित था और इसी कारण जन-साधारण की बुद्धि-शक्ति से परे हो जाता था। ऐसी स्थिति में इस निराकार-वाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया अनिवार्य थी।

बौद्धधर्म का साँ विक्रम की सातवीं शताब्दी में प्रायः लोप हो गया था, किन्तु उसने समाज के हृदय में धार्मिक भावना का, विराग का, सांसारिक कार्यों के प्रति उदासीनता का कुछ ऐसा संस्कार छोड़ दिया था, जो विपरीत परिस्थितियों में भी किसी न किसी रूप में व्यक्त होने के लिए अर्थात् था। विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के लगभग भारतवर्ष में किसी

सम्राट् का अस्तित्व तो नहीं था, किन्तु समाज की समस्त व्यवस्था को अस्त-व्यस्त करनेवाले भयंकर आक्रमणों का अन्त हो गया था और दिल्ली के राजसिंहासन के लिए भले ही दो पक्षों के बीच में कलह और उनके मन में अशान्ति वर्ती रही हो, किन्तु जन-साधारण अपनी धार्मिक अभिरुचि के अनुकूल संतों और महात्माओं के ज्ञानोपदेश का प्यासा था। ऐसे ही समय में मीरों—हिन्दू जाति ही नहीं, ख्री-जाति की रत्न-स्वरूपा मीरों—हिन्दी-काव्याकाश में पीयूष-वर्षिणी चन्द्रकला की तरह उदित हुई।

यह देवी जोधपुर के राणा राठौर रतनसिंह की कन्या और उदयपुर के महाराणाकुमार भोज की पत्नी थी। रैदास नामक महात्मा की शिष्या होकर इन्होंने भगवद्भजन की ओर अपना चित्त लगाया और बहुत दिनों के बाद प्राचीन आर्य-विदुषियों की भाँति आपने परम तत्व का निरूपण सरल भाषा में, काव्य के रूप में, प्रस्तुत किया। समाज में नारी की तत्कालीन स्थिति ऐसी नहीं थी कि राजकुल की कोई महिला नीच वंश में उत्पन्न किसी साधु की शिष्यता ग्रहण करे, अथवा अन्य महात्माओं की मंडली में स्वतंत्रता से विचरण कर सके। इस स्थिति ने मीराबाई को अपने कुटुम्बियों के हाथों अनरु कष्ट पाने के लिए विवश किया, किन्तु इस महान् आत्मावाली नारी ने परिस्थितियों के आवरण को भेदकर अपने आराध्यदेव सत्यनारायण का दर्शन किया, जिनका दर्शन करने पर निस्सन्देह ही राणा के यहाँ से मीरों का जीवनान्त करने के लिए आया हुआ विप का

प्याला अमृत का कटोरा हाँ गया होगा ।

मीराँ ने कबीरदास की निराकारोपासना को तो नहीं स्वीकार किया; वह कोरा वेदान्त मीराँ के नारा-हृदय को रुचिकर न लगा होगा । उनको प्रियतम के रूप में सगुण ब्रह्म की उपासना विशेष पसंद आयी और श्रीकृष्ण को उन्होंने अपना उपास्यदेव बनाया । मीराँ के पहले संस्कृत में गीतगोविंदकार जयदेव और हिन्दी में विद्यापति आदि कवि कृष्ण-काव्य कर चुके थे । किन्तु इन दोनों महाकवियों ने राधा और कृष्ण के अनन्त स्वरूप का उसके इहलौकिक दैनिक जीवन में व्यक्त स्वरूप के साथ सामञ्जस्य करने का कोई उद्योग नहीं किया । मीराँबाई में यह बात नहीं । वे वास्तव में परमतत्व की खोज में रहीं और सगुण उपासना को उन्होंने साध्य न बनाकर साधन बनाया था । निम्न-लिखित पंक्तियों में पाठक देखेंगे कि मीराँ ने उस परमात्मा का कीर्तिगान किया है जिसका कहीं ओर-ओर नहीं—

(१)

भजि मन चरण कमल अधिन।सी ॥ टेक ॥

जे ताइ दीसे धरनि गगन धिच, ते ताइ सथ उठि जासी ॥१॥

बड़ा भयो तीरथ प्रत कीने, बड़ा लिण करवन फासी ॥

इस देहो का गरब न करना, माटी में मिलि जासी ॥२॥

या संसार चहर की बाजी, साँझ पड़यो उठ जासी ॥३॥

बड़ा भयो है भगवा पहन्या, घर तज भये सन्यासी ॥

जोगी होय जुगति नहिं जानी, उलट जनम फिर आसो ॥४॥
 अरज करो अयला फर जोरे, स्याम तुम्हारी दासी ॥
 मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, काटो जम की फाँसी ॥५॥

(२)

जा मैं जीवणा थोड़ा, राम कुण कहरे जंजार ॥
 मात पिता तो जन्म दियो है, करम दियो करतार ॥
 कहरे खाइयो कहरे खरचियो, पढ़रे कियो उपकार ॥
 दिया लिया तेरे संग चलेगा, और नहीं तेरी लार ॥
 मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, भज उतरो भवपार ॥

(३)

स्वामी सब संसार के हो सँचे श्रीभगवान ।
 स्थावर जंगम पावक पाणी, धरती बीच समान ।
 सब में महिमा तेरी देखो, कुदरत के कुरयान ॥
 सुषामा के दारिद्र खोये, बारे की पहिचान ।
 दो मुट्ठी तंदुल की चाबी, दीन्हा द्रव्य महान ॥
 भारत में अर्जुन के आगे, आप भये रथवान ।
 उनने अपने कुल को देखा, छूट गये तोर कमान ॥
 न कोई मारे न कोई मरता, तेरा यह अज्ञान ।
 चेतन जीव तो अजर अमर है, यह गीता को ज्ञान ॥
 मुरु पर तो प्रभु किरपा फीजै, बन्दी अपनी जान ।
 मीराँ गिरधर सरथ तिहारी, लगे चरण में ध्यान ॥

प्याला अमृत का कटोरा हां गया होगा ।

मीरों ने कबीरदास की निराकारोपासना को तो नहीं स्वीकार किया; वह कोरा वेदान्त मीरों के नारी-हृदय को रुचिकर न लगा होगा । उनको प्रियतम के रूप में सगुण ब्रह्म की उपासना विशेष पसंद आयी और श्रीकृष्ण को उन्होंने अपना उपास्यदेव बनाया । मीरों के पहले संस्कृत में गीतगोविंदकार जयदेव और हिन्दी में विद्यापति आदि कवि कृष्ण-काव्य कर चुके थे । किन्तु इन दोनों महाकवियों ने राधा और कृष्ण के अनन्त स्वरूप का उसके इहलौकिक दैनिक जीवन में व्यक्त स्वरूप के साथ सामञ्जस्य करने का कोई उद्योग नहीं किया । मीरोंवादी में यह बात नहीं । वे वास्तव में परमतत्व की खोज में रहीं और सगुण उपासना को उन्होंने साध्य न बनाकर साधन बनाया था । निम्न-लिखित पंक्तियों में पाठक देखेंगे कि मीरों ने उस परमात्मा का कीर्तिगान किया है जिसका कहीं ओर-ओर नहीं—

(१)

भजि मन धरण कमल धरिनासी ॥ देक ॥

जे ताइ दीसे धरनि गगन बिच, ते ताइ सब उठि जासी ॥१॥

कहा भयो तीरथ मत कीने, कहा लिणु भरवत कासी ॥

इस देहो का गरव न करना, माटी में मिलि जासी ॥२॥

या संसार चहर की बाजी, साँझ पड़यो उठ जासी ॥३॥

कहा भयो है भगवा पहन्या, घर तन भये सन्यासी ॥

जोगी होय जुगति नहिं जानी, उलट जनम फिर आसी ॥४॥

अरज करों अचला कर जोरे, स्वाम तुम्हारी दासी ॥

मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, काटो जम की काँसी ॥५॥

(२)

जग में जीवणा थोड़ा, राम कुण कहरे जंजार ॥

मात पिता तो जन्म दियो है, करम दियो करतार ॥

कहरे खाइयो कहरे खरचियो, कहरे कियो उपकार ॥

दिया लिंपा तेरे संग चलेगा, और नहीं तेरी जार ॥

मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, भज उतरो भवपार ॥

(३)

स्वामी सब संसार के हो सँचे श्रीभगवान ।

स्थावर जंगम पावक पाणी, धरती बीच समान ।

सब में महिमा तेरी देखी, कुदरत के कुरमान ॥

सुवामा के दारिद्र सोये, मारे की पहिचान ।

दो मुट्ठी संदुज की थापी, दीन्हा द्रव्य महान ॥

भारत में अजुन के आगे, आप भये रथवान ।

उनने अपने कुल को देखा, छूट गये तीर कमान ॥

न कोई मारे न कोई मरता, तेरा यह अज्ञान ।

चेतन जीव तो अजर अमर है, यह गीता को ज्ञान ॥

सुम्ह पर तो प्रभु किरपा कीजै, बन्दी अपनी जान ।

मीराँ गिरधर सरण तिहारी, लगे चरण में ध्यान ॥

(४)

पायो लो, मैंने नाम रतन धन पायो ।

वस्तु अमोलक दी मेरे सतगुरु, किरपा वर अपनायो ।

जनम जनम की पूँजी पाई, जग में सभी खोवायो ।

खरबै नहीं कोई घोर न लेवे, दिन दिन बढ़त सवायो ।

सत की नाथ खेवटिया सतगुरु, मवसागर तर आयो ।

मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, हरख हरख जस गायो ।

इन पंक्तियों में मीराँ ने अपने प्रभु गिरधर नागर के अविनाशी चरण-कमलों का भजन करने की अपने मन में प्रेरणा की है । अपने प्राणवल्लभ के अनन्त, अप्राहृद्य रूप की धारणा करने के लिए ही उन्होंने मानव रूप में उनकी कल्पना की है । इस मनाहर स्वरूप का वर्णन वे इस प्रकार करती हैं :—

‘मोरन की चन्द्रकला सीस मुकुट सोई ।

बेसर को तिलक भाल तीन लोक मोई ॥

कुंडल की कलकन कपोलन पे छाई ।

मनो मीन सरवर तजि मकर मिलन आई ॥

कुटिल भृकुटि तिलकभाल चितवनि में टीना ।

खंजन अरु मधुप मीन भूले भृगु दीना ॥

सुन्दर अति नासिका सुग्रीव तीन रेखा ।

नटवर प्रभु भेष धरे रूप अति विसेखा ॥

अधर बिंद अरुन नैन मधुर मंद हांसी ।

दसन दमक दाढ़िम दुति चमके चपला-सो ॥

छुद घंट किंकिनी अनूप धुनि सुहाई ।

गिरधर के अङ्ग-अङ्ग मीरा बलि जाई ॥”

संस्कृत-साहित्य में नायिका-भेद का विस्तार तो बहुत है, लेकिन उसे मीराबाई ऐसी किसी नारी-कवि को प्राप्त करने का सौभाग्य नहीं मिल सका । मीराबाई ने न केवल हिन्दी-साहित्य में यह अभाव नहीं आने दिया, बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि उन्होंने संस्कृत तथा हिन्दी के उन कवियों के सम्मुख परकीया नायिका का सर्वोच्च आदर्श उपस्थित किया, जो नारी को विलास-सामग्री के रूप में अंकित करने के अतिरिक्त अन्य किसी रूप में उसकी कल्पना ही नहीं कर सकते थे । जिस ‘गिरिधर नागर’ का चित्रण उक्त पंक्तियों में किया गया है, उसे निष्ठुर, पर प्रेमा-सक्त नायक के रूप में कल्पित करके उन्होंने बहुत ही भावपूर्ण पंक्तियाँ लिखी हैं । उन्हें पाठक देखें—

(१)

श्याम ग्हासूँ पंडो डोले हो ॥

औरन सूँ खेले धमार, म्यासूँ मुखहूँ न बोलें हो ॥ श्या० ॥१॥

म्हारी गलियाँ ॥ फिरे, बाके आंगण डोले हो ॥ श्या० ॥२॥

म्हारी आंगुली न छुवे, बाकी बहियाँ मोरे हो ॥ श्या० ॥३॥

म्यारो धँचरा न छुवे, बाको धूँघट खोले हो ॥ श्या० ॥४॥

मीरा के प्रभु साँवरो, रंग रसियाँ डोले हो ॥ श्या० ॥५॥

(२)

मैं विरहिन थैठा जागूँ. जगत सत सोच रो गाली ॥ टेक ॥
 विरहिन थैठा रंगमहल में, मोतिन को लड़ पोव ।
 एक विरहिन हम ऐसी देखी आसुवन (की) माला पोव ॥ १ ॥
 तारा गिण-गिण रँख बिहानी, सुख की चडी कय आवै ।
 मोरों के प्रभु गिरिधर नागर, मिल के यिछुद न आवै । २ ॥

(३)

घड़ी एक नहि आवये, तुम दरसण बिन मोय ।
 तुम हो मेरे प्राण जी, कासूँ जावण होय ॥
 धान न भावै भीद न आवै, विरह सतावे मोय ।
 घायल-सो घूमत फिरूँ रे, मेरा दरद न जाये कोय ॥
 दिवस तो स्थाय गमायो रे, रँख गमाई सोय ।
 प्राण गमायो मूरता रे, जँख गमाई रोय ॥
 जो मैं ऐसा जाणनी रे, प्रीति किये दुख होय ।
 नगर डँडोरा फेरतो रे, प्रीत करो मत कोय ॥
 पंथ निहारूँ, डगर बुहारूँ, ऊषी मारग जोय ।
 मोरों के प्रभु कबरे मिलोगे, तुम मिलियाँ सुख होय ॥

(४)

हेरी मैं तो प्रेम विवाणी, मेरा दरद न जाये कोय ।
 सूली ऊपर सँज हमारी, किस विधि सोया होय ॥

गगन में डल मैं सेज पिया को किस विध मिल गया होय ।
 घायल की गति घायल जाने, को जिन लाई होय ॥
 जौहरी की गति जौहरी जानै, को जिन जौहर होय ।
 दरद की मारी बन बन डोलूँ बैद मिल्या नहिं कोय ।
 भीराँ की प्रभु पीर मिटैगी जब बैद सँवलिया होय ॥

(५)

यंसीयारो आयो ग्हारे देस थारी साँवरो सुरतवाली बैस ।
 घाजं जाजं कर गया साँवरा कर गया फौल दनेक ।
 गिणते गिणते घिस गईं उंगली, घिस गईं उंगली की रेख ॥
 मैं धैरागिणि आदि की थारे ग्हारे कद को सनेस ।
 बिन पाणी बिन साधुन साँवरा हुइ गई धुई सपेद ॥
 जोगिण हुई जंगल सय हेरूँ तेरा नाम न पाया भेस ।
 तेरी सुरत के कारणे धर लिया भगवा भेस ॥
 मोर मुकुट पीताम्बर सोई घूँघरवाला केस ।
 भीराँ के प्रभु गिरिधर मिल गये कृना बड़ा सनेस ॥

(६)

रमैया मैं तो थारे रँगराती ।

श्रीरों के पिया परदेस बसत हैं, लिख-लिख भेज पाती ।
 मेरा पिया मेरे हृदे बसत है, गूँज करूँ दिन राती ॥
 घूबा चला पहिर भूखारी, मैं झुरमुट भ्रमवा जाती ।
 झुरमुट में मोहि मोहन मिलिया, खोल मिलूँ गलथाटी ॥

और सखी मद पो पी मातो, मैं बिना पीयाँ मदमाती ।
प्रेम मठा को मैं मद पोयो छुकी फिरूँ दिनराती ॥

(७)

राम मिलण रो घणो उपापो नित उठ जोऊँ बाटदियाँ ।
दरसण बिन मोहि पल न मुहावै, कल न पदत हँ आँपदियाँ ॥
तलफँ तलफ के बहु दिन बीते, पड़ी बिरह की काँसदियाँ ।
अब तो बेगि दया कर साहिब, मैं हूँ तेरी दासदियाँ ॥
नैण दुखो दरसण को तरसे, नाम न बँडे साँसदियाँ ।
रात दिवस यह आरत मेरे, कब हरि राखे पासदियाँ ॥
लगी लगन छूटण की नाहीं, अब महाँ कीजै आटदियाँ ।
मीन के प्रभु गिरिधर नागर, पूरे मन की आसदियाँ ॥

(८)

नातो नाम को मोखूँ तनक न तोड़्यों जाय ।
पाना क्यों पीली पड़ी रे लोग कहें पिंड रोग ।
छाने लाँघन मैं किया रे राम मिलण के जोग ॥
बायल वैद, बुलाइया रे पण्ड दिखार्ह म्हारी बाँह ।
मूरख बै मरम नहिं जानी करक करेजे माँह ॥
जाओ वैद घर आपने रे म्हारो नाँव न लेय ।
मैं तो दाधी बिरह की रे काहे कूँ ओखद देय ॥
माँस गलि गलि झीजिया रे करक रह्यो गल माँहि ।
आँगुरियाँ से मँदड़ी म्हारि आवनि लागी पाँहि ॥

रहु रहु पापी पपोहा रे पिव को नाम न लेय ।
 जे कोइ बिरहिन साग्हाले तो पिव कारन जिव देय ॥
 खिन मन्दिर खिन आंगने रे खिन खिन ठाढ़ी होय ।
 घायल भूँ घूमू खड़ी म्हांरी बिथा न बूके कोय ॥
 काटि करेजो मैं घरूँ रे कौसा तू ले जाय ।
 ज्यों देसाँ म्हाँरो पिव बसै रे चे देखत तू खाय ॥
 म्हाँरे नातो नाम को रे और न नातो कोय ।
 मीराँ व्याकुल बिरहनी रे पिय दरसन दीजो मोय ॥

ऊपर श्रीकृष्ण के प्रति मीराँ के उद्गारों को पाठक देख चुके । अब यहाँ यह समझाने का प्रयत्न किया जायगा कि मीराँ हिन्दू समाज की सब से ऊँची कौटि की परकीया नायिका है—बह परकीया नायिका जिसका किसी भी साहित्य को गर्व हो सकता है । हिन्दू-समाज के व्यवस्थाकार ऋषियों का कथन है कि नारी के लिए उसका पति ही परमेश्वर है । उनका यह आदेश इसलिए नहीं था कि पुरुष हाने के कारण वे भी स्त्रियों पर पुरुषों की सत्ता बनी रहने देने के लिए व्यग्र थे और इस कारण स्त्रियों को बेहोश करने के लिए उन्होंने यह धार्मिक अर्काम की घोंटी तैयार की । नहीं, सत्य की आराधना में अहर्निश रत होनेवाले महात्माओं के सदुद्देश्य के प्रति शंकालु होना स्वयं अपनी हानि करना है । अस्तु । उक्त सिद्धान्त पर दृष्टि रखते हुए यह पूछा जा सकता है कि मीराँबाई ने अपने घर में रहकर पति-सेवा अथवा पति-भ्यान में मग्न रहकर ईश्वर की आराधना क्यों नहीं की ? यह प्रश्न

सर्वथा उचित है, किन्तु इसके उत्तर में निवेदन यह है कि पति-परमेश्वर के प्रति अनन्य अनुराग रखना नारी के लिए साधारण-तया एक ऐसा पथ है जो दाम्पत्य-जीवन और ईश्वर-प्रेम का सामञ्जस्य उपस्थित करता है । किन्तु दाम्पत्य-जीवन के दैनिक रूप के प्रति जिस नारी की अश्रद्धा हो जाय वह क्या करेगी ? साधारण श्रेणी की स्त्री दाम्पत्य-जीवन की मलिनताओं के साथ समझौता कर सकती है, किन्तु मीरोंवादी की सी असाधारण प्रतिभा-सम्पन्न नारी को तो यह 'स्वीकृति' त्यागकर 'परकीयात्व' ही ग्रहण करने के लिए बाध्य होना पड़ेगा । ऐसी ही परकीया नायिका की ओर लक्ष्य करके देव कवि की निम्नलिखित पक्तियाँ अपने आप को धन्य समझ सकती हैं :—

कोई बहो कुलटा कुलीन अकुलीन कही,

कोई नहीं रंकिनी कलंकिनी कुनारी हौं ॥

कैसे परलोक नरलोक वरलोकन में,

लौन्हीं मैं असोक लोक लोकन से न्यारी हौं ॥

तन जाहि मन जाहि 'देव' गुरु जन जाहि,

जीय क्यों न जाहि टेक दरत न दारी हौं ॥

बृन्दावन बारी बनबारी के मुकुट पर,

पीतपटवारी बाहि मूरत वै बारी हौं ॥

मीरों की प्रखर आध्यात्मिक प्रतिभा ने सांसारिक बाधाओं और बिघ्नों को तुच्छ समझकर किस प्रकार हरि-गुण-गान में ही अपनी सार्थकता समझी, यह उनकी निम्नलिखित दो मनाहर भजनों में देखिये :—

प्रवीणराय



महात्मा तुलसीदास ने अपने काव्य में जिस उच्च कोटि की कला का निदर्शन किया था वह तत्कालीन समाज की उत्पत्ति नहीं थी; उनकी साधना का फल था। हाँ, कलि के वर्णन में, लम्पटों और दुर्जनों आदि के चित्रण में, निस्सन्देह, हम उनके समय के समाज की मनोवृत्तियों का चित्रण भी पा सकते हैं। यदि विद्यापति और सूर की तरह वे भी लोक-संग्रह के भावों से शून्य होते, तो उन्होंने भी समाज की तत्कालीन कुरुचि के मोहक जाल में पड़कर शायद अपनी कला में उस आंशिक नम्रता का समावेश होने दिया होता जिससे उक्त दो महाकवियों की कविता कुछ मात्रा में पीड़ित है। आध्यात्मिक क्षेत्र में, और राष्ट्र की विपन्नावस्था में राजनैतिक क्षेत्र में भी, नारी और पुरुष का सामाजिक मिलन सदैव उच्च और कल्याणकारी होता है, किन्तु जब यह मिलन उस अवस्था में होता है जब कला वासनाओं की आराधना की साधन-स्वरूपा हो गयी हो तब वह दोनों के

व्यक्तित्व को विकसित करने के स्थान में कुंठित हो कर सकता है । कला के पतन-काल में उसका गँठबंधन उक्तियों ही से होता है— वे उक्तियाँ जो सत्य के सुन्दर रूप को मनोहर बनाने की चेष्टा नहीं करतीं, भोग और विलास को अनुरजित रूप प्रदान करने में सयत्न होती हैं । प्रवीणराय की कविता भी इसी काँटि की है ।

प्रवीणराय ओड़छा के महाराजा इन्द्रजीतसिंह की 'वेश्या' थी । वह महाराज को हृदय से प्यार करती थी । उसके इस प्यार का अनुमान करने के लिए पाठक उसकी निम्नलिखित पंक्तियों पर दृष्टिपात करें, जो उसने अकबर को सुनायी थीं और जिनका उस पर (अकबर पर) इतना प्रभाव पड़ा कि उसने उसको इच्छा के विरुद्ध अपने यहाँ से महाराज के पास भेज दिया:—

(१)

अंग अनंग तहीं कछु मभु सुनेहरि लंफ गयन्हहि' घेरे ।
भौंह कमान तही भृग लोचन खंजन क्यों न चुगी तिलि मेरे ॥
है कच राहु तहीं उदै इंदु मुकीर के धिग्वन चोंचन मेरे ।
कोऊ न काहु सों रोस कर सुडरै डर साह अकबर तेरे ॥

(२)

बिनती रायप्रवीन की, सुनिये साह सुजान ।

जूती पतरी भलत हैं, बारी-बायस-स्वान ॥

बादशाह के यहाँ जान के पहले उसने महाराज से इस प्रकार निवेदन किया था :—

आइं हों धूमन मन्त्र तुम्हें निज भ्रासन सों सिगरी मति गोई ।
 देह तजौ कि तजौ कुल कानि हिये न लजौ लजिहैं सय कोई ॥
 स्वारथ था परमारथ को पथ चित्त विचारि कहाँ तुम सोई ।
 जामे रहै प्रभु की प्रभुता अरु मोर पतिव्रत भंग न होई ॥

कहा जाता है कि अकबर बादशाह ने प्रबीणराय को दो दोहों के एक-एक चरण देकर उनकी पूर्ति करने के लिए उससे कहा और प्रबीणराय ने भी उनकी रसीली पूर्तियाँ प्रस्तुत करके बादशाह को प्रसन्न कर लिया । नीचे ये दोहे दिये जाते हैं; इनमें प्रथम चरण बादशाह के और द्वितीय चरण प्रबीणराय के हैं :—

(१)

युवन चलन तिय देह से चटक चलत किहि हेत ।
 मनमथ वारि मगल को, मीति मिहारो लेन ॥

(२)

ऊँचै हूँ सुरबस किये नीचे नर बस कीन ।
 अथ पताल बस करन को दरकि पयानो कीन ॥

प्रबीणराय ने महाकवि केशवदास से कविता सीखी थी । महाकवि ने अपने 'कवि-प्रिया' नामक ग्रंथ में, जिनकी रचना भी

उन्होंने उसी के लिए की थी, कई छंद लिखे हैं। उनमें से दो छन्द पाठकों के मनोरंजनार्थ नीचे दिये जाते हैं :—

(१)

नाचति गावति पङ्क्ति सय सबै बनावत बीन ।

तिनमें करति कायत्त हक रायप्रबोध प्रबोध ॥

(२)

सुधरन धरन सु सुधरननि, रचित रुचिर रुचि लीन ।

सन कन प्रगट प्रबोध मति, नवरंग रायप्रबोध ।

प्रवीणराय के काव्य का विषय गृंगार रस स्पष्ट ही है। नीचे के छप्पय और दोहे से भी इसी ओर उसकी रुचि प्रकट होती है :—

(१)

कमल फोक श्रीफल मँजीर कलधोत कलश हर ।

उच्च मिलन भानि पट्टिन दमक-बहु स्वल्प नीलधर ॥

मरधन शरधन हेय मेरु कैलाश प्रकाशन ।

निशि यासर तरवारि कांस कुन्दन दड आसन ॥

इमि फटि 'प्रबोध' जल यल थपक अचिय भजित तिय गौरि संगे ।

बलि खलित उरज उलटे सलिल हँदु शीश इमि उरज डंग ॥

(२)

चिबुक धूप मंद दोल तिल, पँथक यलछ की दोरि ।

रग भिल्ली, हित-बलकि नित, जल-पुषि भग्न भकोरि ॥

प्रवाणराय की नायिका-सृष्टि भी इसी दिशा की ओर संकेत करती है। निम्नलिखित कवित्तों का अवलोकन कोजिए:—

(१)

सीतल सरीर डार, मंजन कै धन सार,
 अमल छँगोछे आछे मन में सुधारिहौ ।
 देहौ न अलक एक लागन पलक पर,
 मिलि अभिराम आछी सपन उठारिहौ ।
 कहत 'प्रवीणराय' आपनीन ठौर पाय,
 सुन नाम नैन या बचन प्रतिपारिहौ ।
 जय ही मिलेंगे मोहि' इन्द्रजीत प्रान-प्यारे,
 दाहिनी नयन मृदि तोही मों निहारिहौ ।

(२)

छूटी लट्टें अलबेलो सी चाल भरे मुखपान खरी कटि छीनी ।
 चोरि नफारा उधारे उरोजन मोहन हेरि रही त्रु प्रचीनी ॥
 यात निशंक कटै अति मोहि सों मोहि' सों प्रीति निरंतर कोनो ।
 छाँड़ि महानिधि लागन की हिन मेरो सो क्यां बिभरै रस-भीनो ॥

(३)

फूर कुकुट कोटि कोठरी निवारि राखौ,
 चुनि दै चिरैयन का मूँदि राखौ जलियो ।

सारंग में सारंग सुनाइ के 'प्रवीन' बाना,
 सारंग दै सारंग की जोति करीं थलियो ॥
 बैठि परमंक पै निमंक हूँ कै शंक भरौ,
 करौंगी अधर पान सैन मत मिलियो ।
 मोहिं मिलैं इन्द्रजीत घोरज नरिन्द्रराय,
 एहो चंद ! आज नेकु मंद गति चलियो ॥

(४)

नीकी घनी गुनगारि निहारि नेयारि तऊ अँगियाँ ललचासो ।
 जान अजानन जोरित दीठि बसीठि के ठारन धारन हाती ॥
 आनुरता पिय के जिय को लखि प्यारी 'प्रवीन' यहँ रसमानी ।
 उद्यो उद्यो बहू न बसानि गोपाल की ल्यों ल्यों फिर घर में मुसकानी ।

(५)

मान के पैठो है प्यारी 'प्रवीन' सो देखे बने नहा जात बनायो ।
 आनुर हूँ अति कीतुक सों उत लाल चले अति मोद बढायो ॥
 जोरि होऊ कर ठाढ़े भने करि कातर नैन सों सैन बढायो ।
 देवत बँदी मखा को लगी मिन हेरयो नहीं हूँ यो बहरायो ॥



ताज



मीराबाई ने व्यावहारिक रूप में निर्गुण उपासना का तिरस्कार कर दिया था। किन्तु मूर्ख सुसलमान कवियों की एक ऐसी मंडली ने हिन्दी-काव्य के क्षेत्र में प्रवेश किया जिसने निर्गुण उपासना को रहस्यवादपूर्ण प्रबंध-काव्य के ढाँचे में ढालकर अत्यन्त रोचक रूप में प्रस्तुत किया। इन कवियों की भाषा में बहुत अधिक परिमार्जन और परिष्कार का प्रयत्न दृष्टिगोचर नहीं हुआ; ये गँवारों की सौधी-सादी भाषा में अपने भावों को जैसे क्या वैसे प्रकट करके ही सन्तुष्ट रहे। यह सब होने पर भी निर्गुण उपासना की लोकप्रियता धीरे-धीरे नष्ट हो चली। निर्गुण के साथ सगुण का अटूट सम्बन्ध स्थापितकर तुलसीदास ने प्रसिद्ध 'रामचरित-मानस' में सगुण उपासना पर ही जोर दिया। सूरदास तो उनसे एक कदम आगे बढ़े; उन्होंने ऊँचों के श्रीमुख से निर्गुण उपासना की व्याख्या कराने के बाद गोपियों के द्वारा उसकी जो आलोचना करायी उसे सगुणोपासना के पक्ष में सूरदास ही

के भावों की अभिव्यक्ति समझिए । एक ओर स्वामी रामानन्द और उनके शिष्यों ने रामचन्द्र की उपासना का प्रचार किया और दूसरी ओर स्वामी बलभाचार्य ने श्रीकृष्ण की उपासना का । महात्मा तुलसीदास ने स्वामी रामानन्द के भावों को, और महात्मा मूरदास ने स्वामी बलभाचार्य के संदेश को, अपने काव्य द्वारा हिन्दुओं के घर-घर में पहुँचाया । इस प्रकार वैष्णव मत के इत्थान से सूक्तियों का जोर कम हो गया और स्वयं मुसल्मान कवि उनके कृष्णोपासना-मूलक रूप पर मुग्ध होकर उसे ग्रहण करने लगे । अपनी व्यापक सहानुभूति और उदारता आदि सद्गुणों के प्रभाव से हिन्दू-संस्कृति का मुस्लिम संस्कृति को आत्मसात् करने का यह पहला सफल प्रयत्न था । श्रीकृष्ण के प्रति अनुराग और भक्ति हिन्दू तथा मुसल्मान दोनों को उसी प्रकार आकर्षित करने लगी थी जिस प्रकार मुरलीधर की मुरली गोपिकाओं को उन्मत्त बना देती थी । दिल्ली में मुराली का साम्राज्य स्थापित हो चला था और एक ओर तो वहाँ राजपूत यादवा अकबर को राज्य-संगठन में तन-मन से सहायता दे रहे थे और दूसरी ओर मुसल्मान घुन्दावन में राधिका-वल्लभ की रूप-माधुरी पर उन्मत्त होकर 'रमरमान' के स्वर में स्वर मिलाकर इस प्रकार कह रहे थे :—

(१)

मानस हीं तो बहै रमरमानि बसौं प्रभ मोदुल गाँव के ग्वारन ।

जो पशु हीं तो कहा बस मेरो चहौं जिन नंद की घेनु मझारन ॥

पाहन हों तो वहै गिरि का जो धरयो कर धन पुरदर धारन ।
जो खग हों तो बसेरो कर्गें मिलि कालिंदो कुल कदम्ब की डारन ॥

(२)

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि वारों ।
आठहुँ सिद्धि नवो निधि को सुख नन्द की गाइ चराइ बिसारों ॥
रसखानि कषों इन आँखिन सों मज के बन बाग तदाग निहारों ।
कोटिन हूँ फलधौत के धाम करील के कुंजन उपर वारों ।

श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी पर मत्त होनवाले मुसलमान व्यक्तियों में एक मुसल्मान महिला भी थी। उसका नाम था ताज। खेद है, इस देवी के सम्बन्ध में हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों का पूरी जानकारी उपलब्ध नहीं है। ठाकुर शिवसिंह का कहना है कि इनका जन्म संवत् १६५२ में हुआ, किन्तु मुंशी देवीप्रसाद इससे सहमत नहीं; वे संवत् १७०० के लगभग इनका जन्म मानते हैं। स्व० गोविंद-गिह्लाभाई के निम्नलिखित पत्र से कुछ ज्ञातव्य बातों का पता चल सकता है:—

“ताज नाम की एक मुसलमान स्त्री-कवि करौली ग्राम में हो गई है। यह नहा-थोकर मंदिर में भगवान का नित्यप्रति दर्शन करती थी; इसके पश्चात् भोजन ग्रहण करती थी। किन्तु एक दिन वैष्णवों ने उसे विधर्मिणी समझकर मंदिर में दर्शन करने में रोक दिया। इससे ताज उस दिन उपवास करके मंदिर के आगत में ही घेरी रह गई और कृष्ण के नाम का जप करती रही। जब

रात हो गई तब ठाकुरजी स्वयं मनुष्य के रूप में भोजन का थाल लेकर ताज के पास आये और कहने लगे—तूने आज ज़रा-सा भी प्रसाद नहीं खाया, ले अब इसे खा । कल प्रातःकाल जब सत्र वैष्णव आवें तब उनसे कहना कि तुम लोगों ने मुझे कल ठाकुरजी का प्रसाद और दर्शन का सौख्य नहीं दिया, इससे आज रात को ठाकुरजी स्वयं मुझे प्रसाद दे गये हैं और तुम लोगों को सन्देश कह गये हैं कि ताज को परम वैष्णव समझो । इसके दर्शन और प्रसाद-ग्रहण करने में रुकावट कभी मत डालो । नहीं तो ठाकुर जी तुम लोगों से नाराज़ हो जायेंगे । प्रातःकाल जब सत्र वैष्णव आये तो ताज ने सारी बातें उनसे कह सुनाई । ताज के सामने भोजन का थाल रक्खा देखकर वे अत्यन्त चकित हुए । वे सभी वैष्णव ताज के पैर पर गिर पड़ें और क्षमा-प्रार्थना करने लगे । तब से ताज प्रतिदिन भगवान का दर्शन करके प्रसाद ग्रहण करने लगी । पहले ताज मंदिर में जाकर ठाकुरजी का दर्शन कर आती थी तब और दूसरे वैष्णव दर्शन करने जाते थे ।”

“ताज कवि परम वैष्णव और महा भगवद्भक्त थी । उन्हीं ठाकुरजी की कृपा से यह कवि हो गई । जब मैं करोली गया था, तब अनेक वैष्णवों के मुख से मैंने यह बात सुनी थी । वहीं मैंने इतनी अनेक कविताएँ भी सुनीं । उसी समय मैंने इतनी कितनी ही कविताएँ लिख भी ली थीं । ताज की दो सौ कविताएँ मेरे हाथ की लिखी हुई मेरे निजी पुस्तकालय में हैं ।”

नीचे ताज की तीन कविताएँ पाठक देखे :—

(१)

सुनो दिल जानी मेरे दिल की कहानी तुम,
 दस्त ही बिकानी यदनामी भा सहूँगी मैं ।
 देव पूजा ठानी हूँ निवाज हूँ भुलानी तजे,
 कलमा, कुरान सारे गुनन गहूँगी मैं ॥
 श्यामला सलोना सिरताज सिर कुल्ले दिये,
 नेरे नेह दाग में निदाग हूँ रहूँगी मैं ।
 नन्द के कुमार कुरबान ताणी सुरत पै,
 हीं नो नुरकानी हिन्दुशानी हूँ रहूँगी मैं ॥

(२)

छैल जो छर्बाला सब रंग में रंगोला बडा,
 चित्त का अडीला सब देवतों से न्यारा है ।
 माल गले सोहै, नाक मोती सेत सोहै कान,
 मोहै मन कुँडल मुकुट सीस धारा है ॥
 दुष्ट जम मारे, संत जन रखवारे 'नाज',
 चित्त हित चारे प्रेम प्रीतिकर चारा है ।
 नन्द जू को प्यारा जिन कंस को पड़ारा,
 वह वृन्दावनवारा कृष्ण साहेब हमारा है ॥

(३)

चैन नहीं मन में न मल्लो न सुनै न परे अल में न तई है ।
 'ताल' कहै पर्यंक यों बाल ज्यों चंपकी माल बिलाय गई है ॥
 नेकु बिहाय न रैन कछु यह जान भयानक भारि भई है ।
 भीत पै भातु समान सुदोष अंगन में मानों आगि दई है ॥



शेख



तुलसीदास और सूरदास ने राम-काव्य तथा कृष्ण-काव्य को अपनी प्रखर प्रतिभा द्वारा पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया। यों तो इन दोनों महाकवियों में अनंक बातें एक सी थीं, साथ ही विभिन्नताएँ भी अनंक थीं; किन्तु उनकी एक विभिन्नता उल्लेख-योग्य है। तुलसीदास ने रामचन्द्र को सगुण ब्रह्म केवल कहा ही नहीं, लौकिक व्यवहारों में उन्होंने उनकी ऐसी मर्यादा रखी कि उनके आचरण पर किसी का सन्देह नहीं हो सकता। यह भी सत्य है कि उन्हें संस्कृत-साहित्य के जो अनंक रामायण-ग्रंथ उपलब्ध हुए वे सब के सब रामचन्द्र का उज्ज्वल चरित्र ही अंकित करते हैं; साथ ही यह भी हो सकता है कि रामचन्द्र मर्यादा-पुरुषोत्तम के रूप में ग्रहण किये गये हैं। जो हो, महात्मा सूरदास ने श्रीकृष्ण का चरित्र और चित्र अंकित करने में विचार-धारा के क्षेत्र में मौलिकता से काम नहीं लिया और उन्हें अपने दृष्ट देवता के रूप में ग्रहण करते हुए भी, अवतार मानते हुए भी, वे गीतगोविंद के प्रणेश जयदेव तथा मैथिलीकोकिल विद्यापति की

काव्य-परम्परा से तनिक भी पृथक् नहीं हुए । इसका परिणाम यह हुआ कि एक ओर तो श्रीकृष्ण परब्रह्म के अवतार-रूप में गृहीत होकर पूज्य हुए और दूसरी ओर उनका दैनिक जीवन का चरित्र एक महापुरुष का सा भी नहीं हुआ । महात्मा सूरदास महात्मा थे, प्रखर प्रतिभाशाली कवि थे; इसलिये वे तो कृष्ण-काव्य को परम्परा पर चलकर भी पथ-भ्रष्ट होने से बचे रहे । लेकिन उनके उत्तराधिकारियों ने तो उनकी त्रुटियों ही को अपनाया । उनमें सूर की राधा को वेदना का अनुभव करने की शक्ति नहीं थी, न वे सूर की कोटि के कलाकार थे । किन्तु वे सहज ही राधा को कुलटा और श्रीकृष्ण को दुराचार-रत नायक-रूप में अंकित करने का प्रवृत्ति के शिकार हो सकते थे; यह दोष उनका नहीं, उनकी सीमित प्रतिभा का था ।

विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के अंत में राजनैतिक और साहित्यिक दोनों प्रकार की प्रतिभा और स्फूर्ति का स्थान मन्दता और स्थिरता ने ग्रहण करके हिन्दू जाति का निर्माण का फार्म्य शिथिल कर दिया । दिल्ली के राजसिंहासन पर बैठकर जैसे जहाँगीर और शाहजहाँ ने अपना किसी विशिष्ट प्रतिभाशालता का परिचय नहीं दिया वैसे ही राम-काव्य के क्षेत्र में तुलसीदास के उत्तराधिकारों केशवदास और कृष्ण-काव्य के क्षेत्र में सूरदास^१ के अनुगामी विद्यालाल^२ और देव^३ ने भाषा और शैली का शृंगार तथा साधा-

१—वि० १५४० वि० १६२० । २—वि० १६३०—१७२० ।

३—वि० १७३०—१८०२ ।

रण श्रेणी के नायक-नायिकाओं की सृष्टि के अतिरिक्त अन्य कोई उल्लेख-योग्य काम नहीं किया । उक्त नायक-नायिका-सृष्टि में 'राधा' और 'कृष्ण' शब्दों की काव्यात्मक व्यंजना से काम लेने का प्रवृत्ति ने, उच्च कला की दृष्टि से—जिसमें विचार-धारा की स्वच्छता का एक आवश्यक भाग है—कहीं-कहीं सुकुमार भावनाओं के अधिकारी इन कवियों को कौड़ों के बदले में मुहर लुटाने के लिए विवश किया है । शेख भी इन्हीं कवियों की अनुयायिनी एक मुसलमान महिला थी ।

विक्रम संवत् १७१२ के लगभग आलम नाम के एक बड़े ही भावुक कवि हो गये हैं । शेख इन्हीं की स्त्री थी । आलम पहले सनादित ब्राह्मण थे । शेख रँगरेजिन थी । एक बार उन्होंने अपनी पगड़ी शेख को रँगने के लिए दी । शेख ने जब पगड़ी खोली तो उसमें कागज का एक चिट मिला, जिसमें दोहे का एक चरण लिखा था । यह चरण इस प्रकार का था :—

कनक छरी सी कामिनी काहं कां कटि छान ।

पता नहीं कवि महोदय ने शेख के सौन्दर्य से प्रथम ही प्रभावित होकर यह दोहाद्वे लिखा था या नहीं । शेख ने दोहे की इस प्रकार पूर्ति की—

कटि कां कुंचन काटि बिधि कुंचन मय्य धार दीन ।

इस पूर्ति को उसी कागज में लिपिबद्ध करके शेख ने कागज पगड़ी में बाँध दिया और उसे कवि के हवाले किया । पगड़ी पाने पर जब

उनका ध्यान दोहों की पूर्ति पर गया तब वे शेख पर जो-जान से मुग्ध हो गये। शेख के प्रेम में मत्त होकर उन्होंने मुसल्मानी मत को स्वीकार कर लिया।

मुंशी देवीप्रसाद ने इस घटना को किंचित परिवर्तित रूप में प्रस्तुत किया है। वे दोहों के प्रथम चरण के स्थान में कवित्त के निम्नलिखित तीन चरण ब्रतलाते हैं :—

“प्रेम रँग पगे जगमगे जगे जामिनि के,
जोयन की जोति जगि जोर उमगत हैं।

मदन के भाते मतवारे ऐसे धूमत हैं,
भूमत हैं झुकि झुकि भूमि उधरत हैं।

आलम सो नवल निकाई इन मैननि की,
पाँखुरी धुम पै भंवर धिरकत हैं।”

इस कवित्त के चौथे चरण की पूर्ति शेख ने इस प्रकार की :—

“चाहत हैं उद्विगे को देखत मयंक मुख,
जानत हैं रैनि ताने नाहि मैं रहत हैं।”

शेख की कविता में नारी-हृदय के सहज संकोच का अभाव देखकर हम चकित हो जाते हैं। घटना का प्रथम रूप तो उसके नारीत्व के लिए शोभाजनक नहीं। कारण स्पष्ट है—आलम की पगड़ी में दोहेवाले कागज के टुकड़े का पड़ा रह जाना भूल हो सकती है, किन्तु शेख का उत्तर देना तो सुनिश्चित विचार का फल था। जो हो, यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि शेख में

रण श्रेणी के नायक-नायिकाओं की सृष्टि के अतिरिक्त अन्य कोई उल्लेख-योग्य काम नहीं किया । उक्त नायक-नायिका-सृष्टि में 'राधा' और 'कृष्ण' शब्दों की काव्यात्मक व्यंजना से काम लेने की प्रवृत्ति ने, उस कला की दृष्टि से—जिसमें विचार-धारा की स्वच्छता का एक आवश्यक भाग है—कहीं-कहीं सुकुमार भावनाओं के अधिकारी इन कवियों को कौड़ो के बदले में मुहर लुटाने के लिए विवश किया है । शेख भी इन्हीं कवियों की अनुयायिनी एक मुसलमान महिला थी ।

विक्रम संवत् १७१२ के लगभग आलम नाम के एक बड़े ही भावुक कवि हो गये हैं । शेख इन्हीं की स्त्री थी । आलम पहले सनाढ्य ब्राह्मण थे । शेख रँगरेजिन थी । एक बार उन्होंने अपनी पगड़ी शेख को रँगने के लिए दी । शेख ने जब पगड़ी खोली तो उसमें कागज का एक चिट मिला, जिसमें दोहे का एक चरण लिखा था । यह चरण इस प्रकार का था :—

कनक छरी सी कामिनी काहे को कटि छान ।

पता नहीं कवि महोदय ने शेख के सौन्दर्य से प्रथम ही प्रभावित होकर यह दोहादे लिखा था या नहीं । शेख ने दोहे का इस प्रकार पूर्ति की—

कटि को कंचन काटि विधि कुचन मव्य धरि दीन ।

इस पूर्ति को उसी कागज में लिपिवद्धकरके शेख ने कागज पगड़ी में बाँध दिया और उसे कवि के हथाले किया । पगड़ी पाने पर जब

उनका ध्यान दोहे की पूर्ति पर गया तब वे शेख पर जो-जान से मुग्ध हो गये । शेख के प्रेम में मत्त होकर उन्होंने मुमल्मानी मत को स्वीकार कर लिया ।

मुंशो देवीप्रसाद ने इस घटना को किंचित परिवर्तित रूप में प्रस्तुत किया है । वे दोहे के प्रथम चरण के स्थान में कवित्त के निम्नलिखित तीन चरण प्रतलाते हैं :—

“प्रेम हैं परो जगमगे जगे जामिनि के,
जोवन की जोति जगि जोर उमगत हैं ।

मदन के भाते मतधारे ऐसे धूमत हैं,
कूमत हैं झुकि झुकि झंषि उधरत हैं ।

आलम सो नवज निकाई इन बैननि की,
पाँखुरी १दुम पे भंवर धिरकत हैं ।”

इस कवित्त के चौथे चरण की पूर्ति शेख ने इस प्रकार की :—

“चाहत हैं उबिबे को देखत मयंक मुख,
जानत हैं रैनि ताने नाहि मैं रहत हैं ।”

शेख की कविता में नारी-हृदय के सहज संकोच का अभाव देखकर हम चकित हो जाते हैं । घटना का प्रथम रूप तो उसके नारीत्व के लिए शोभाजनक नहीं । कारण स्पष्ट है—आलम की पगड़ी में दोहेवाले कागज के टुकड़े का पड़ा रह जाना भूल हो सकता है, किन्तु शेख का उत्तर देना तो सुनिश्चित विचार का फल था । जो हो, यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि शेख में

मनोहर उक्तियाँ प्रस्तुत करने की शक्ति थी। अस्तु। शेख की कविता में राधा का चित्रण देखिए :—

सुनि चित चाहे जाकी किंकिनी की मनकार,

करत कजासी सोइ गति तु विदेह की।

‘सेख’ भनि आशु है सुफेरि नहि काहू जैसी,

निकसी है राधे की निकाई निधि, नेह की।

फूल की सो आभा सब सोभा ले मकेलि धरी,

फूलि गेह नाल भूलि जेहे सुधि रोह की।

कांठि कवि पखें तक बरनि न पावै कवि,

बेसरि उतारे छवि बेसरि के बेहरी।

अभिसारिका नायिका के सौन्दर्य-वर्णन में शेख की दूर नायक से कहती है :—

मृग मद पोति मापी नीलंबर तक जोति,

धूम उरफाई मानो होरी की सो भारी है।

ले चली हैं अंधियारी अंग अंग छवि न्यारी,

आरसी में दीप की सी दीपति पसारी है।

ऊतरो मिंगार ‘सेख’ जोन्ह हू को साशु कीनो,

जोन्ह हू में जोन्ह मो लसै मुधा मुधारी है।

बार बार कहत हैं प्यारी को छपाई ल्याउ,

कैयं के छपाऊं परछाँदियो ‘उज्यारी’ है।

लज्जालो नायिका के वशाकरण का मंत्र शेख ने अपनी मधु पंक्तियों में इस प्रकार बतलाया है :—

कानी चाही चाहिली नचोदा एकै बार तुम,
 एक बार जाय तिहि छलु डरु दोजिये ।
 'सेख' कहै आवन सुहेली सेज आवै लाल,
 सीखत सिखैगी मेरी सीख सुनि लीजिये ।
 आवन को नाम सुनि सावन किये है नैन,
 आवन कहै मुकैसे आइ जाइ छीजिये ।
 बरबस बस करिये को मेरो बस नाहि,
 ऐसी पैस कहौ कान्ह कैसे बस कीजिये ।

निम्नलिखित कविनों में शंभु-अंकित विविध नारी-चित्रों का
 अवलोकन कीजिए :—

(१)

छलिये को आई ही सु हाँही छलि गई मनु,
 छीकती नं छलु करि पठई बिहारी हाँ ।
 तूँ तो चल है पै आली हाँ हीये अचल सो हाँ,
 सादी रूप-रेख देखि रीझि भीजि हारी हाँ ।
 'मेख' भनि जाल-भनि बेंदी की बिदा है ऐमे,
 गोरे-गोरे भाल पर वारि फेरि हारी हाँ
 बेरिनि न होहु नेकु बेसरि मुधारि धरी,
 हाँ तो यलि बेसरि के नेह बेध मारी हाँ ।

(२)

जागन है जोन्ह सीरी लागन दे रात जैमे,
 जात सारी सेत में संघात की न जानिहै ।

अथये की भोर परो साथ लीजै मो सी नारि,
 आतुरी न होइ यह चातुरी की खानिहै ।
 धूँधट ते 'सेख' मुख जोति न घटैगी छिनु,
 कीनों पट म्यारिये कलक पहचानिहै ।
 तू तौ जानै छानी पै न छानी या रहैगो बीर,
 छानी छवि नैनन को काको लोहू छानिहै ।

(३)

लोगी कैसे फेरनि वियोगी आवै बार बार,
 जोगों ह्वै है नौ लागि वियोगी बिललातु है ।
 जा छिन ते निरखि किसोरी हरि लियो हरि,
 ता छिन ते खरोई धरोई पियरातु है ।
 'मेख' प्यारे अति ही विहाल होइ हाथ हाथ,
 पल पल अंग की मरोर मुरछातु है ।
 आन धाल होत निहि तन प्यारी अलि चादि,
 बिरही जरनि ते बिरह जरयो जातु है ।

(४)

जोवन के कल बन कलनि मिलन चली,
 बीच मिले वाक्य मुग्ध मुग्धि विमराई है ।
 चाँसुरी मुगत भई चाँसुरिगो चाँसुरी गु,
 चाँसुरी की काहि 'मेख' चाँसुनि अघाई है ।

थकि थहराइ बहराइ सीठिया न कहू,
 ठहराइ जाय ऐसी पुनि ठहराई है ।
 बारुनी विरह आक बाक अकवास जगी,
 गई दुर्ती छाक देन आपु छकि आई है ।

(२)

नेह सों निहारै नाहुं भेनु आगे काने बाहु,
 छाँहियो छुवत नारिं नाहियों करति है ।
 प्रीतम के पानि पेलि आपनी मुँहँ संकोख,
 धकि संकुचि दियो गान्धी के धरति है ।
 'सेख' कहि आँधे बैनां दोलिं करि नाचै बैना,
 हाँ हाँ करि मोहन के मनहिं हरति है ।
 केलि कं अरुमं खिन खेल के बदायंघे को,
 मोदाँ जो प्रमीन सो नबोदाँ हूँ वरति है ।

शेखर अंकित निम्नलिखित नायक-चित्र भी देखिए । इन पत्तियों में नायक का स्थान भ.कृष्ण ने लिया है :—

(१)

कहूँ भुल्यां भेनु कहूँ धाइ गई घेनु कहूँ,
 आयं चित चैनु कहूँ मोरपंख परे है ।
 मन को हरन को है अछरा छरन को है,
 एहँ ही छुम्ह एहिं एनि छूँ है एहे है ॥

‘सेख’ कहै प्यारी तू जी जयही ते बन गई,
 तब ही ते कान्हू अंसुवनि सर करे हैं ।
 पाते जानियति हैं जू बेऊ नदी नारे नीर,
 कान्हू घर विकल बियोग रोग भरे हैं ॥

(२)

बांस बिधि आऊं दिन बारीषे न पाऊं और,
 बाही काज बाही घर बांसनि की बारी है ।
 नेकु किरि ऐहैं कैहैं देरी दे असोदा मोहि,
 मो पै हठि मांगैं बंसी और कहै डारी है ।
 ‘सेख’ कहै तुम सिखबो न कहु राम, याहि,
 भारी गरिहाइतु की सीखे सेतु गारी है ।
 संग लाइ मैया नेकु न्यारो न कहैया कीजै,
 बलन बलैया लैकै मैया बलिहारी है ।

रसिक बिहारी



अठारवीं विक्रमी शताब्दी के द्वितीय चरण में महाराज नागरी-
दास नाम के एक भक्त कवि हो गये हैं। घनानंद,
शीतल, घाघ, भूधरदास, कृष्ण, जोधराज, रसिक सुमीन, गंजन,
अली मुहिब्बखाँ 'प्रीतम' हरिकेश, बरुशी हंसराज, राजा गुरुदत्त
सिंह, 'भूपति', तोपनिधि, दलपतिराय, सोमनाथ, रसलीन, रघुनाथ,
ललित किशोरी, गिरिधरराय, नूर मुहम्मद, दूलह आदि कवियों का
काव्य-काल यही था। इन कवियों में से कुछ को छोड़ कर शेष ने
बहुत साधारण श्रेणी की रचना की। अधिकांश कविताओं में राधा
और कृष्ण का नायिका और नायक के रूप में अंकन अत्यन्त निम्न
श्रेणी का हो गया है। स्वयं महाराज नागरीदास, जो विरक्त होने के
बाद महात्मा नागरीदास कहलाये, इस प्रवृत्ति से सर्वथा मुक्त नहीं
रह सके; वह काल ही ऐसा था, उस समय की विचार-धारा को
गति ही इस दिशा में थी। रसिकबिहारी, जिनका असली नाम
'बन्ती ठनी जी' था, उक्त महात्मा नागरीदास की शिष्या और दासी

थीं; महात्मा जी के सम्पर्क से ही काव्य की ओर उनकी प्रवृत्ति हो सकी। रसिक विहारी की रचनाओं में पदलालित्य की विशेषता स्पष्ट ही है। उनके घृन्दावन में रहने पर भी उनकी कविता कृष्ण और राधा के प्रेममय चित्रों को न अंकित करती तो यह आश्चर्य ही की बात होती। रसिकविहारी ने अधिकांश में शृंगार-रसपूर्ण कविताएँ की हैं और पूर्ववर्ती कवियों के चिर प्रयोग के कारण नायक-नायिका चित्र को सहज ही आँखों के सामने स्पष्ट कर देने की क्षमता रखनेवाले 'कृष्ण' और 'राधा' शब्दों की व्यञ्जना-शक्ति से पूरा लाभ उठाया है।

नीचे की पंक्तियों में रसिकविहारी की शृंगार-रससम्यन्धी प्रवृत्ति का परिचय, असंदिग्ध रूप से, मिलता है:—

(१)

गहगह साज समाज-शुत, अति सोभा उफनात ।

बलित्रे को मिलि सेज-सुख, मंगल-मुदमय-रात ॥

रही मालती गहकि तहं, सेवत कोटि अजंग ।

कर। मदम ममुठार मिलि, सख रजनी रस-रंग ॥

चले दौड मिलि रसमसे, जैन रसमसे जैन ।

प्रेम रसमसी ललित गहि, रंग रसमसी रैन ॥

'रसिकविहारी' सुख सदन, आए रस सरमात ।

प्रेम बहुत घोरी निसा, है थायो परमात ॥

(२)

कुंज पधारो रंग-भरो रैन ॥

रंग भरो दुलहिन रंग भरे पोया स्वामसुंदर सुख दैन ॥

रंग-भरी संज रचो जहां सुन्दर रंग-भरयो उलहत मैम ।

'रसिकविहारी' प्यारी मिलि दोउ करौ रंग सुख-चैन ॥

(३)

होरी होरी कहि बोलै सब अज की नारि ।

नन्दगाँव-बरसानो हिलि मिलि गाँवन इत उत रस की नारि ॥

उदित गुलाल अरुण भयो अंबर चलै रंग पिघकारि कि धारि ।

'रसिकविहारी' भानु-दुलारी नायक संग खेलै खेलवारि ॥

रसिक विहारी के नायिका-चित्र साधारण, किन्तु मधुर और हृदय-रपशी हैं :—

(१)

धीरे झूलो री राधा प्यारी जी ।

नवल रंगीली सबै झुलावत गावत सखियों सारी जी ॥

फरहरात अंचल चल चंचल लाज न जात सँभारी जी ।

कुंजन थोर दुरे लखि देखत प्रीतम 'रसिकविहारी' ली ॥

(२)

, कैसे जल-लाऊँ मैं पनघट जाऊँ ॥

होरो खेखे-तन्व छाड़िखो प्योकर नियहम पाऊँ ॥

वे तो निलज फाग मदमाते हैं कुल-यधु कहाज ।

जो छुवे अंचल 'रसिकविहारी' धरती फार समाज ॥

(३)

मैं अपना मन-भावन लीनों, इन लोगन को कहा न कीनों ।

मन है मोल लयों री सजनी, रतन अमोलक नन्दुलारे ॥

नवल लाख रंग भीनो ।

कहा भयो सब के मुख मोरे, मैं पायो पीव प्रवीनों ।

'रसिकविहारी' प्यारो प्रतीम, सिर बिधनां लिख दोनो ॥

रसिकविहारी के नायक-चित्रों में भी वैसी ही भावुकता है

जैसी नायिका-चित्रों में—

(१)

रतनारी हो थारी आंखदियां ।

प्रेम छकी रस-वस अलसायी जायि कमल की पांखदियां ॥

मुन्दर रूप सुभाई गति मति ही गई अयूं मधु मांखदियां ।

रसिकविहारी वारी प्यारी कौन रसी निसि कांखदियां ॥

(२)

हो आलो दे छे रसिया नागर पनो ।

सारा देखै लाज मरां छां थावां किछ जतनां ॥

छैल अनोखो क्यों कह्यो माने लोभो रुख सनां ।

'रसिकविहारी' लखव घुरी छै हां आग्यो म्यारो भनो ॥

(३)

ये बांसुरियावारे ऐसो जिन बतराय रे ।

यों बोलिष्ट ! अरे घर बसे लाजनि दूबि गई हाय रे ॥

हों धाई या गैलाहि सों रे ! नैन चलयो धौं जाय रे ।

‘रसिकविहारी’ नांव पाय कै क्यो इतना इतराय रे ॥



सहजोबाई और दयाबाई *

सहजोबाई और दयाबाई को आध्यात्मिक तथा साहित्यिक क्षेत्र में मीराबाई की उत्तराधिकारिणी मानना चाहिए। मीरा पर निर्गुणवादियों का जैसा प्रभाव दृष्टिगोचर होता है वैसा ही सहजो और दया पर भी पाया जाता है। मीरा ने श्रीकृष्ण को अपना प्रेमपात्र बनाया था; सहजो और दया का भी हम श्रीकृष्ण को ओर वैसी ही प्रवृत्ति रखते पाते हैं। किन्तु फिर भी मीराबाई और इनमें अन्तर है—मीरा में जो भावुकता और तन्मयता थी उसका शतांश इनमें नहीं था। जो हो सहजोबाई और दयाबाई के सरल नीति अथवा धर्म-सम्यन्वी पदों को हम कला की दृष्टि से भले ही प्रबोणराय, और शंकर का कविता से हीन समझें किन्तु यदि हमारा दृष्टिकोण यह हो कि सौधा-सादा लोकहितकारक बात को सीधे-सादे ढंग से कहना किसी असुन्दर, अकल्याणकर विषय को आकर्षक और मनोहर रूप में प्रस्तुत करने का अपेक्षा अधिक भ्रष्टकर है तो सहजो और दया की पानी की दुबुना और

विमलता सहज ही हमें सन्तुष्ट करती है, भले ही उसमें चमत्कार न हो, भले ही विचित्रता, और लालित्य आदि गुणों से वह सम्पन्न न हो। इन दोनों देवियों में इतना भावसाम्य है कि जो बात एक के लिए कही जाय, वह दूसरे के लिए भी यथार्थ हो सकती है। ये दोनों गुरु-बहनें थीं। इनमें से पहले सहजोबाई की कविता का परिचय यहाँ दिया जायगा।

सहजोबाई साधु भुक्तदेव उपनाम चरनदास की शिष्या थीं, जो इनके कथनानुसार सन् १७६० में वर्तमान थे। उनकी प्रशंसा उन्होंने इस प्रकार की है—

(१)

मखीरा आज जनमे लीला-धारी ।
तिमिर भजिगो भक्ति खिडैगी, पारावन नर नारी ॥
दरसन करतै आनंद उपजै, नाम लिपे अथ नासै ।
चरचा में सम्येह न रहसी, खुलि है प्रबल प्रगासै ॥
बहुतक जीव ठिकानो पैई, आवागवन न होई ।
जम के दण्ड दुहन, पायक की, तिन कू मूल निकोई ॥
होई है खोगी प्रेमी जानी, मत्सरूप हूँ जाई ।
चरन दास परमाथ कारन, गावै सहजो बाई ॥

(२)

मखीरा आज जनम लियौ सुख दाई ।
दूसर कुल में प्रगट हुए हैं, बाजन अनेक बथाई ॥

भादों तीज सुदी दिन मंगल, सात घड़ी दिन आये ।
 सम्बत् सत्रह साठ हुते तब, सुभ समयों संव पाये ॥
 जैजकार भयो मधि गाऊँ, मात पिता मुख देखौ ।
 जानत नाहिने कौन पुरुष हैं, आये हैं नर भेखौ ॥
 संग चलावन अगम पन्थ कूँ, सुरज भक्ति-उदय को ।
 आप गुपाल साधनन धारयौ, निहचै मो मन ऐसो ॥
 गुरु मुकुंददेव नाँव धरि, दोन्हौ, चरनदास उपकारी ।
 सहजोवाई तेन मन वारै, नमो नमो बलिहारी ॥

सहजोवाई का कविता काल लगभग सं० १८०० मानना चाहिये । ये दूसर कुल की रत्न-स्वरूपा थीं । इन्में संसार की अनित्यता के प्रति कितना विराग-भाव था, इसका परिचय आप निम्नलिखित पंक्तियों से पा सकते हैं:—

'सहजो' भजि हरि नाम कूँ, तजो जगत सँ नेह ।
 अपना तो कोई है नहीं, अपनी संगी न देह ॥
 जैसे सँडली लोह की, जिन पानी जिन आग ।
 ऐसे दुख सुख जगत के 'सहजो' तू मन पाग ॥
 अचरज जीवन जगत में, मरिबों साँचो जान ।
 'सहजो' अक्सर जात है, हरि सूँना पहिचान ॥
 मूठा नाता जगत का, मूठा है घर बास ।
 यह तन मूठा देख कर, 'सहजो' भई उदास ॥
 कोई किमी के संग ना, रोग मरन दुख बंध ।

इतने पर अपनी कहें, सत जो ये नर ग्रंथ ॥

मर बिबुदन यो होइगो, ज्यों तस्वा ; सू पात ।

सहजो काया प्रान यों, सुख सेती ज्यों बात ॥

निर्गुण भगवान का गुणगान सहजो ने इस प्रकार किया है:—

नाम नहीं औ नाम सब, रूप नहीं सब रूप ।

सहजो सब कछु ग्रह है, हरि परगट हरी रूप ॥

भक्त हेत हरि आइया, पिरथो भार उतारि ।

बाधन की रक्षा करी, पापी डारे - मारि ॥

ताके रूप अनन्त हैं, जाके नाम अनेक ।

ताके कीतुक बहुत हैं, 'सहजो' नाना भेष ॥

हे अखंड व्यापक सबल, सदा रहत भर पुर ।

ज्ञानी पावै निकट ही, मूरख जानै दूर ॥

नया पुरना होष ना, धुन नहि लागे जासु ।

'सहजो' मारा न मरै, भय नहि व्यापै तासु ॥

किरै धटे छीजै नहीं, ताहि न भिजेवै नीर ।

ना काहु के आसरे, ना काहु के सीर ॥

रूप बरन जाके नेहों, 'सहजो' रंग न देख ।

मीत इष्ट जाके नहीं, जाति पति नहि गेह ॥

सहजो 'उपजै नों' मरै, सद आसी नहि होय ।

रात दिवस तामें नही, सीत उज्ज नहि सोय ॥

आग जलाय सकै नहीं, सस्तर सकै न काटि ।

धूप सुखाय सकै नहीं, पवन सकै नहि आटि ॥

मात पिता बोकें नहीं, नहिं कुटुंब को राज ।
 'सहजो' चाहि न रंकता, ना काहु को राज ॥
 आदि धन्य ताके भई, मज्य नहों तेहि माई ।
 बार बार नहिं 'सहजिया' जघू दीर्घ भी नाई ॥
 परलय में आवै नहीं, उत पति होय न फेर ।
 महा अनादि 'सहजिया' घने हिराने हेर ॥
 जाके किरिया करम ना, पद वसन को भेस ।
 गुन औगुन ना 'सहजिया', पेसे पुरख अलेस ॥
 रूप नाम गुन सूँ रहित पाँच तत्त सूँ दूर ।
 चरन दास गुरु ने कही 'सहजो' छिमा हजूर ॥
 आपा खाये पाह्ये, और जतन नहिं कोय ।
 नीर छीर निताय के 'सहजो' मुगति समोय ॥

(२)

तेरी गति बितहुँ न जानी हो ।

मझा मेस महेसुर थाके, चारो बानी हो ॥
 पाद करंते सब मत थाके, बुद्धि थकानी हो ।
 विद्या, पढ़ि पढ़ि पंडित थाके, अरु मझशानी हो ॥
 सधके परे जुधन मम हारी, याद न जानी हो ।
 धान धोन करि बहुतक याकी, भई सिरानी हो ॥
 सुर नर मुनिजन गनपति थाके, बड़े विनानी हो ।
 चरन दास यकी 'महजोबाई' भई सिरानी हो ॥

सहजो ने निर्गुण और सगुण का सामंजस्य भी उपस्थित किया है। उनकी दृष्टि में श्रीकृष्ण का रूप ऐसा ही है। वे कहती हैं:—

(१)

मेरे हृदय सिर गोपाल, और नहीं कोउ भाई ।
आइ बैस हिये माहि', और पूजा ध्यान नाहि',
मेरे तो सर्वस उन औ हिताई धोई ॥
जाति हू की कान सजो, लोक हू की लाज भजी,
दोनों कुल माहि' बनो, कहा करै सोई ॥
उचरी है प्रीति मेरी, निहचै हुई बाकी चैरो,
पहरि हिये प्रेम चैरो, दूटै नहि' जोई ॥
मैं जो चरनदास भई, गति मति सब खोइ दई,
'सहजो' बाई नहीं रही, उठि गई दोई ॥

(२)

धन्य जसोदा मन्द-धन, धन व्रज मंडल-देस ।
आदि निरंजन 'सहजिया' भयो ग्वाल के भेष ॥
निर्गुन सगुन एक प्रभु देख्यो समझ विचार ।
सतगुरु ने आँखी दई, निहचै कियो निहार ॥

सहजो का मत है कि ईश्वर को निर्गुण रूप में मानो या सगुण रूप में, पर किसी सच्चे गुरु की सहायता के बिना ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती।

(१)

गुरु बिन मारग ना चलै, गुरु बिन लहै न शान ।
 गुरु बिन सहजो धुन्ध है, गुरु बिन पूरी हान ॥
 हरि किरपा जो होय तो, नाहीं होय तो नाहिं ।
 पै गुरु किरपा दया यिनु, सकल बुद्धि नहिं जाहिं ॥

(२)

राम तजूँ पै गुरु न बिसारूँ । गुरु के सम हरि कूँ न निहारूँ ॥
 हरि ने जन्म दियो जगमाहीं । गुरु ने धावागमन छुटाहीं ॥
 हरि ने पांच चोर दिये साया । गुरु ने लहै लुटाय अनाया ॥
 हरि ने कुटुंब जाल में गेरी । गुरु ने काटी ममता बेरी ॥
 हरि ने रोग भाग उरकायो । गुरु जोगी कर सबै छुटायो ॥
 हरि ने कर्म मर्म भरमायो । गुरु ने आतन रूप लखायो ॥
 फिर हरि बंध मुक्ति गति लाये । गुरु ने सब ही भर्म मिटाये ॥
 चरन दास पर सने मन बारूँ । गुरु न तजूँ हरि को तजि डारूँ ॥

(३)

गुरु की श्रुति कहीं लौ कीजै । बदला कहा गुरु कूँ दीजै ॥
 गुरु का बदला दिया न जाई । मन में उपजत है सकुचाई ॥
 इन नैनन जिन राम दिखाये । बंधन कोटि-कोटि मुकाये ॥
 अभय दान दीनन कूँ दीग्ये । देखत आप सरोखे कान्हे ॥
 गुरु का किरपा अपरम्पार । गुन गावत मम रसना हारै ॥

सेस सहस मुख निसिदिन गावै । गुरु अस्तुति का अन्त न पावै ॥

जिस किसी को ईश्वर की लगन लग जाती है, उससे सच्चा अनुराग हो जाता है, उसकी दशा ही और की और हो जाती है । सहजो का कहना है:—

प्रेम दिवाने जो भये पलटि गयो सब रूप ।
 'सहजो' दृष्टि न आवई, कशा रंक कहा भूप ॥
 प्रेम दिवाने जो भये, नेम धरम गयो खोय ।
 'सहजो' नर नारी हंसै, वा मन आनंद होय ॥
 प्रेम दिवाने जो भये, 'सहजो' डिगमिग देह ।
 पाव पडै कितकै कितो, हरि संभाल जय लेइ ॥
 प्रेम लटक दुर्लभ महा, पार्व गुरु के ध्यान ।
 प्रलप सुमिरन करत हूँ, उपजै केवल ज्ञान ॥

दयावाई का जन्म मेवाड़ के डेरा नामक गांव में हुआ था । महात्मा चरनदास ने, जो इनके भी गुरु थे, इसी गांव में जन्म ग्रहण किया था । इनका जन्म-काल सं० १७५० और १७७५ के बीच में माना जा सकता है । सं० १८१८ में इन्होंने 'दयाबोध' नामक ग्रंथ का निमाण किया । सहजो का तरह दया में भी संसार के प्रति विराग-भाव पाया जाता है । वे कहती हैं:—

'दया कुंवरी' या जूझ में, नहीं रहयो फिर कोय ।
 जैसे वास सराय के, तैयो यह जग होय ॥

जैसे मोती ओस को, तैसे यह संसार ।
 बिनसि जाय छिन एक में, 'दया' प्रभु उरधार ॥
 तात मात तुम्हरे गये, तुम भी भये तयार ।
 आज काल्ह में तुम चलौ 'दया' होहु हुसियार ॥

ज्ञान हो जानं पर उन्हें सम्पूर्ण विश्व की एकता का अनुभव
 हुआ, और चारों ओर अपना ही अभिन्न स्वरूप दिखायी
 दिया—

ज्ञान रूप को भयो प्रकास ।

भयो अविद्या तम को नास ॥

सूक्ष्म परयो निज रूप अभेद ।

सहजै मिट्यो जीव को खेद ॥

जीव ब्रह्म अन्तर नहिं कोय ।

एकै रूप सर्व घट सोय ॥

जगत बियतं सुँ न्यारा जान ।

परम अद्वैत रूप निर्धान ॥

बिमल रूप व्यापक सब आई ।

अरध उरध मैं रहत गुमाई ॥

महा सुब सास्त्री चिद्रूप ।

परमात्म प्रभु परम अनूप ॥

निराकार निरगुन निरवासी ।

आदि निरंजन अज अविनाशी ॥

दयावाई का कहना है कि साधु-संत की सेवा स्वयं भगवान की सेवा है । संसार रूपी सागर को पार करने के लिए यदि हरिनाम नाव की तरह है तो साधु उसका खेने वाला है; इसलिए सत्संग और साधु-सेवा तो करनी ही चाहिए—

(१)

साध साध सब कोउ कहै, दुरलभ साधू सेव ।
जब संगति है साधकी, सब पावै सब भेव ॥
साध रूप हरि आप है, पावन परम पुरान ।
मेदै दुविधा जोय की, सब का करै कल्याण ॥
कोटि जप व्रत नेम तिथि, साध संग में होय ।
विषम व्याधि सब मिटत है, सांति रूप सुख जोय ॥
साधू विरला जग में, हप' सोक करि हीन ।
कहन सुनन कूँ बहुत हैं, जन जन आगे दीन ॥
कलि केवल संसार में, और न कोउ उपाय ।
साध-संग हरि नाम बिनु मन की सपन न जाय ॥
साध-संग जग में यदो, जो करि जानै कोय ।
आधो छिन सतमंग को, कलमख द्वारे खोय ॥

(२)

'दयादासि' हरि नाम लै, या जग में यह सार ।
हरि भजते हरि हो भये, पायो भेद अपार ॥

सोयत आगत हरि भजो, हरि हिरद न बिसार ।
 दोरा गहि हरि नाम को, 'दया' न टूटे तार ।
 नारायन नर देह में, पैयउ हैं सतकाल ।
 सतसंगति हरि भजन सँ, काढ़ो मृत्ना ब्याल ॥
 दया नाव हरि नाम को, सतगुरु खेवन हार ।
 साधू-जनके संग मिलि, तिरस न लागी वार ॥

दयावाई ने सांसारिक दुर्बलताओं से मुक्ति प्राप्त कराने वाले
 गुरु की महिमा का भी मनोहर वर्णन किया है —

(१)

सतगुरु सम कोउ है नहीं, या जग में दाता ।
 देत दान उपदेश सों, करें जीव भव पार ॥
 गुरुकिरपा बिन होत नहिं, भक्ति भाव विस्तार ।
 ओग जज्ञ जप तप 'दया' केवल ब्रह्म विचार ॥
 या जग में कोउ है नहीं, गुरु सम दीन दयाल ।
 सरनागत कूँ जानि के, भले करें प्रतिपाल ॥
 मनमा बाचा करि 'दया' गुरु चरणों बित लाव ।
 जग समुद्र के तरन कूँ, नाहिन आन उपाव ॥
 जे गुरु कूँ बन्दन करें 'दया' प्रीति के भाव ।
 भानेंद भगन सदा रहै, तिरविध तप नभाव ॥
 चरन कमल गुरु देख के, जे सेवत हिन जाय ।
 'दया' अमरपुर लाग हैं, जग सुपनों बिसराय ॥

सतगुरु ग्रह सरूप हैं मनुष्य भाव मत जान ।
 देह भाव मानें ‘दया’ ते है पसू समान ॥
 नित प्रति यन्दन कीजिये, गुरु कूँ सीस नवाय ।
 ‘दया’ सुखी कर देत हैं, हरि स्वरूप दरमाय ॥

(२)

गुरु बिन ज्ञान ध्यान नहि होवै ।
 गुरु बिनु चौरासी मन जावै ॥
 गुरु बिन राम भक्ति नहि जायै ।
 गुरु बिन अमुभ कर्म नहि ग्यायै ॥
 गुरु हो दीन दयाल गोमाई ।
 गुरु मरनै जो बोदै जादै ॥
 पभंड करै काग यूँ हंसा ।
 मन के मेटत हैं सब मंसा ॥
 गुरु हैं मातर कृपा निधाना ।
 गुरु हैं ग्रह रूप भगवाना ॥
 हानि लाभ दो, सम करि जानै ।
 हृदै ग्रंथि नोकी विधि मानै ॥
 दै उपदेश करै अम नासा ।
 दया देत सुख सागर :यासा ॥
 गुरु को अहिनिम ध्यान जो करिये ।
 विधियन मेया में ॥

तन मन सँ अज्ञा में रहिये ।

गुरु आज्ञा बिन कछु न करिये ॥

सहजो की तरह दया ने भी उस प्रेम का वर्णन किया है जिसकी चोट लग जाने पर मनुष्य सासारिक पीड़ाओं से मुक्त होकर निश्चिन्त हो जाता है, जिसके फल-स्वरूप उसे अपने तन मन की ही खबर नहीं रह जाती—

दया प्रेम प्राण्यो तिम्है, तन की तनि न संभार ।

हरि रस में माते फिरें, गृह बन कौन बिचार ॥

हरि रस माते जे रहैं, तिनको भतो अगाध ।

त्रिभुवन की सम्पत्ति 'दया', नून सम जानत साथ ॥

कहुँ घरत पग परत कहुँ, डिगमिगत सब देह ।

'दया' भगन हरि रूप में, दिन दिन अधिक सनेह ॥

हंसि गायत रोजत उठत, गिरि गिरि परत अधीर ।

पै हरि रस तसको 'दया', सहै कठिन तन पीर ॥

विरह विधा सँ हूँ विकल, दरसन कारन पीव ।

'दया' दया की लहर कर, न्यों तलफाशो जीव ॥

पंथ प्रेम को अटपटो, कोह न जानत बीर ।

कै मन जानत आपनो, 'कै लागो जेहि पीर ॥

सोवत जागत एक पल, नाहिन बिसरों तोहि ।

फरना सागर दया निधि, हरि लीजै सुधि मोहि ॥

प्रेम पुंज प्रगटै जई, तहाँ प्रगट हरि होय ।

'दया' दया करि देत हैं, श्री हरि दसन सोय ॥

सुन्दरकुंवरि बाई



रसिक विहारी की कविताओं का परिचय कराते हुए प्रसंगवश हमने महाराज नागरीदास की चर्चा की थी। यहाँ उन्हीं की बहन श्रीमती सुन्दर कुंवरि की कविताओं के सम्बन्ध में कुछ निवेदन किया जायगा।

सुन्दरकुंवरि बाई का जन्म कार्तिक सुदी १ सम्बन् १७९१ में दिल्ली में हुआ था। ये रूपनगर और कृष्णगढ़ के राजा राजसिंह राठौर की कन्या थीं। ३०-३१ वर्ष की अवस्था में इनका विवाह राधवगढ़ के महाराज बलभद्रसिंह के पुत्र कुंवर बलदेवसिंह के साथ हुआ। होलकर और संधिया के आक्रमणों के कारण इनके पति देव का जीवन शान्तिमय नहीं रह सका, जिससे अवश्य ही देवी जी के साहित्यिक कार्यों में भी व्याघात पड़ा। फिर भी इन्होंने (१) नेह विधि-रचना, (२) धृन्दावन गोपी-माहात्म्य, (३) संकेत युगुल, (४) रसपुंज, (५) प्रेम संपुट, (६) सार-संग्रह, (७) रंगमय, (८) गोपी माहात्म्य, (९) भावनाप्रकाश; (१०) रामरहस्य,



आदि ग्रंथों की रचना के साथ-साथ विविध पदों तथा स्फुट कवित्तों की रचना की। इससे स्पष्ट है कि यदि शान्तिमय वातावरण मिलता तो शायद ये और अधिक रचनाओं का निर्माण कर सकते।

सुंदरिकुँवरि ने अपने काल के अन्य कवियों की तरह अधिकतर सामयिक प्रवाह के अनुकूल ही कविता की है। नायिका और नायक की उद्भावना करने में इन्होंने भी 'राधा' और 'कृष्ण' शब्दों की प्रचलित व्यञ्जनाओं से काम लिया है। निम्न-लिखित पंक्तियों में इनका नायिका-अंकन देखिए—

(१)

आशा लहि घनरसान का चञ्ची मला वहि कुंज ।
जहाँ विराजन मानना श्री राधा-मुख पुंज ॥
श्री राधा मुख-पुंज कुंज तिहि आई सहचरि ।
वह कन्या को संग लिये प्रेमातुर मद भरि ॥
कंठ भई कर जोर निहोरन यात सयानिनि ।
तजहु मान अब मान मान मो राखहु मानिनि ॥

(२)

प्रिय के प्राण समान हो सोखी कहाँ सुभाष ।
चक्ष-चक्षोर यानुर चनुर चदानन दरसाय ॥
चंदानन दरसाय अरो हा ! हा ! ई तोषों ।
वृषा मान गढ छोड़ि कही पिय का मुनि मासों ॥

सूये दृष्टि निहारि प्रिया सुनि प्रेम पहेली ।

जल दिन मय अहि-मणि जुहीत इन गति उन पेहली ॥

(३)

श्री वृषभानु-सुता मन-मोहन जीवन प्रान अघार पियारी ।

चन्द्रमुखी मुनिहारन आतुर चातुर चित्त चकोर विहारी ॥

जा पद-पंकज के अलि लोचनस्याम के लोभिन सोभित भारी ।

हैं बलिहारी सदा पग पै नय नेह नयेजां सदा मतवारी ॥

(४)

मेरी प्रान-सजीवन राधा ।

कय तो यदन सुधाधर दरसै यों अँखियन हरै बाधा ॥

ठमकि ठमकि लरिकीहीं चालन आव सामुदे मेरे ।

रस के यचन पियूष पोष के कर गहि बैठहु मेरे ॥

रहसि रंग की भरी उमंगनि ले चल संग लगाय ।

निभृत नवल निकुञ्ज विनोदन विलपन सुख-दरसाय ॥

रगमहल मंकेत जुगल के टहलिन करतु सहेली ।

आशा लही रहौ तहँ तटपर बोलत प्रेम-पहेली ॥

मन-मंजरी तु कीन्हों किकरि छपनाचहु किन बेग ।

सुन्दरकुंवरि स्वामिनी गधा हित की हरी उदेग ॥

(५)

ग्राहि ग्राहि वृषभानु-नंदिनी नेकों मेरो लाज ।

मन-मलाह के परी भरोसे बूझत जन्म-जहाज ।

उदधि अथाह थाह नहिं पइयत प्रचल पवन की सोप ।
 काम, क्रोध, मद, लोभ भयानक लहरन के अति कोप ॥
 प्रसन पसारि रहे मुख तामहिं कोटि प्राइ से जेते ।
 बीच धार तहँ नाच पुरानी तामहिं धोखे केंते ॥
 जो लगि सुर भग करै पार यदि सो केवट मति नीच ।
 वही यात अति ही यौरानी चहत हुषोयन बीच ॥
 याको कछु उपचार न लागत दिय हीनत है मैरो ।
 सुन्दरकुंवरि याँह गति स्वामिनि एक भरोसो तैरो ॥

सुन्दरिकुंवरि की नायक-सृष्टियाँ साधारण श्रेणी की;
 मधुर और हृदय-स्पर्शिनी हैं:—

(१)

कहत रगाम मेरे नहीं तुम बिन कोऊ आन ।
 प्रानहु है प्यारी प्रिया काहि करत ही मान ॥
 काहि करत ही मान चलहु पिय संग बिहारौ ।
 राधा राधा मंत्र नाम वे रहत तिहारौ ॥
 नायक नन्दकुमार सकल सुभ गुन के सागर ।
 तिनसौ मान निवार बहुत बिनवत सुनि नागर ॥

(२)

उतै अकेले कुञ्ज में बैठे नन्द किसोर ।
 तेरे हित सज्जा रचत-विविध कुसुम दल-जोर ॥

विविध कुसुम दल-जोर तलप निज हाथ बनावत ।
करि करि तेरो ध्यान कठिन सों छिनन विहावत ॥
जाके सब आघोन सुतो आघीनी तेरे ।
जिहि मुख लखि प्रज जियत पई तो मुख रुख हेरे ॥

(३)

सुन्दर स्याम मनोहर मूरति श्रोत्रजराज कुँवार मिहारी ।
मेर पला सिर गुंज हरा बनमाल गरे कर बंसिका धारी ॥
भूपन अरु के संग सुशोभित लीभित होत लखैं प्रजनारी ।
राधिका-यत्न-मो दृग-गोद बसौ नवनेह रहौ मत्तवारी ॥-

(४)

मन-मोहन के दृग की गति तौ मन संग लै घूँवट की ठगई ।
लखि सास लखात किशोरी लजात सु भौहैं कछु इतरान ठई ॥
इतरानहि की ललचान इतै लगि छूटन नैनन आव पई ।
रहि कान्ह का लाजाह रीझि गई इनहुँ ते वही रिझवारि भई ॥



प्रतापकुंवरि बाई



श्रीमती प्रतापकुंवरि बाई जोधपुर रियासत के जाखण नामक परगना के भाटिया ठाकुर गोयंद दास जी की कन्या थीं। आप का जन्म लगभग सं० १८७३ में हुआ था। बाई जी मारवाड़ के महाराजा मानसिंह के साथ ब्याही गयी थी। अपना परिचय उन्होंने ने स्वयं निम्नलिखित पंक्तियों में इस प्रकार दिया है:-

अदुकुल अति उत्तम सुखदाई ।
जामें कृष्ण प्रगट भे आई ॥
तेहि कुल में गोयंद मम ताता ।
प्रगटे जाख नगर विस्थाता ॥
भगर जोधपुर . मान महीपा ।
सब राठौर वंश में दोषा ॥
तेहि नृप ते में कियो विवाहा ।
गावत मंगल अनत उदाहा ॥

ईस सरूप जानि पति पाँचा ।
 सेवा कीन्ही मनया बाचा ॥
 सँवत अठारी अंत उदासा ।
 परस सई की भादव मासा ॥
 पति बियोग दुख भयो अपारा ।
 भयो सकल सूनो संसारा ॥

वाई जी पति को भगवान के रूप में देखती थीं, ११ मीरावाई के आदर्श से थोड़ा भिन्न, किन्तु साधारणतया [हृत्स्थ-जीवन और आध्यात्मिक जीवन की प्रतिकूलता को मिटाकर एक मध्य मार्ग उपस्थित करने वाला, आत्मविकास का अपेक्षाकृत तम सफ़टपात्र, साधन है। उनका यह भाव उनकी निम्न लिखित पक्तियों से प्रगट होता है:—

पति समान नहिं दूजा देवा । तार्ते पति की कीजै सेवा ॥
 पति परमात्म एक समाना । गावैं सब ही वेद पुराणा ॥
 धरम अनेक कहैं जग माहीं । तिय के पतिमत सम कछु नाहीं ।
 देवहुती अनुसुइया नारी । पतिमत ते हरि सुत अवतारी ॥५॥

वाई जी के जीवन में आध्यात्मिक आनन्द की झलक देखी जाती है। जैसे उनका दाम्पत्य-जीवन पति को परमेश्वर-रूप में समझने की दिव्य कल्पना से विभूषित था, वैसे ही उनका कवि-जीवन भी आध्यात्मिक आनन्द की खोज का परिचय देता है। उन्होंने, अधिकांश में आत्म-चिंतन का भाव उद्दीप्त करने वाली

कविताएँ लिखी हैं, जिनमें मधुर पदावली और सुंदर मानसिक भावों का सहृदयता पूर्ण अंकन भले ही न पाया जाय, किन्तु जो असंदिग्ध रूप से पाठक के हृदय पर अच्छा प्रभाव डालने की शक्ति रखती हैं। उनकी नीचे की पंक्तियाँ स्वयं इस बात को स्पष्ट करती हैं:—

(१)

होरिया रँग खेलत - भाओ ।

इला पिंगला मुख मखि नारी ता संग खेल खिलाओ ॥

सुरत पिचकारी चलाओ ।

काचो रँग जगत को छाँदी सँचे रँग, जगाओ ।

बाहर भूल क्यों मत जाओ काया-नगर, बसाओ ॥

तबै निरभै पद पाओ ।

पाँचो उलट धरे घर भीतर अरुहद बाद बाजाओ ।

सब बकवाद दूर तज दीजै ज्ञान-गोत नित गाओ ॥

पिया के मन तब ही भाओ ।

तीनो ताप तीन गुण त्यागो, संसा सोक नसाओ ।

कहै प्रतापकुँवरि हित चित सौं फेर जनम नहिं पाओ ॥

जोत में जोत मिलाओ ।

(२)

होरी खेलन की सत भारी ।

नर-तन पाय अरे भज हरि को-मास एक दिन चारी ।

अरे अब चेत अनारी ।

ज्ञान-गुलाल अबीर प्रेम करि, प्रीत तणी पिचकारी ।

लास उसास राम रँग भर-भर सुरत सरीरी नारी ॥

खेल इन संग रचा री ।

उलटो खेल सकल जग खेलै उलटो खेलै खिलारी ।

सतगुरु सीख धार सिर ऊपर सतसंगत चल जारं ॥

भरम सब दूर गुपारी ।

ध्रुव प्रह्लाद विभीषण खेलै मीरा करमा नारी ।

कहै प्रतापकुँवरि हमि खेलै सो नहि आवै हारी ॥

साख सुन लीजै अनारी ॥

(२)

आस तो काहु की नहि मिटि जग में भये रावण से बड़ जोधा ।

साँवत सूर सुयोधन से बल से नल से रत बाँधि विरोधा ॥

केते भये नहि जाय मखानत जूझ भुये सब ही करि क्रोधा ।

आस मिटे परताप कहै हरि-नाम जपेरु बिचारत बोधा ॥

श्रीमतीजी ने ज्ञानसागर, ज्ञानप्रकाश, प्रताप-पर्चासी, प्रेम-सागर, रामचन्द्र-नाम-महिमा, रामगुण-सागर, रघुवर-सनेह-लीला, रामप्रेमसुख-सागर, राम-सुजस-पर्चासी आदि अनेक ग्रंथों की रचना की है । उनकी एक विशेषता यह है कि उन्होंने अन्य पूर्ववर्ती महिला-कवियों की तरह न तो श्रीकृष्ण को अपना आराध्य देव

बनाया और अपनी कविता का विषय हों। आपकी रचनाएँ देखिए—

(१)

धर ध्यान रटो रघुवीर सदा धनुधारी का ध्यान दिये धर रे ।
पर पीर में जाय कै बेग परी करते सुभ सुकृत को कर रे ॥
तर रे भवसागर को भजि कै लाज, कै शव-श्रीगुण ते डर रे ।
परताप कुमारि कई पद-पंकज पाव धरो मत बीसर रे ॥

(२)

शवधपुर घुमदि घटा रही छाया ।
खल्लत सुमंद पवन पुरवाहं नव घनघोर मचाय ॥
दादुर मोर पंखा बोलत दामिनि दमकि दुराय ।
भूमि निरकुंज सघन तरुवर में लता रही लिपटाय ॥
सरजू उमगत लेत हिलोरें निरखत सिध रघुराय ।
कहत प्रतापकुँवरि हरि ऊपर धारधार बलि जाय ॥



बाघेली विष्णुप्रसाद कुंवरि ❀

प्रताप कुँवरिबाई के समय के आस-पास कुछ अन्य देवियों ने भी हिन्दी में पद्य-रचना की है। किन्तु उनकी कृतियाँ इस योग्य नहीं हैं कि उन पर विशेष ध्यान दिया जा सके। वास्तव में इस काल में पुरुष कवियों ने भी कोई विशेष चमत्कार नहीं दिखाया, स्त्री कवियों की कौन कहे। पुरुष-कवियों में चैरीसाल, किशोर, दत्त, रतन, ब्रजवासीदास, गोकुलनाथ, गोपीनाथ, मणिदेव, तीर्थराज, बोधा, पद्माकर, रघुराजसिंह और द्विजदेव ने लगभग इसी समय में की। इस कवि-मण्डली में पद्माकर, रघुराजसिंह और द्विजदेव को छोड़कर शेष में साधारण कोटि हो की कवित्व-शक्ति देख पड़ती है। पद्माकर का पद-लालित्य और भाषा-प्रवाह भले ही रघुराजसिंह में न हो, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि रघुराजसिंह भी अच्छे कवि थे। इन्हीं कवि की पुत्री श्रीमती बाघेली विष्णु-प्रसाद कुँवरि थीं।

बाघेली विष्णुप्रसाद कुँवरि का जन्म संवत् १९०३ में हुआ। अठारह वर्ष की अवस्था में इनका विवाह महाराज श्रीजसवंतसिंह के छोटे भाई किशोरसिंह से हुआ। संवत् १९५५ में किशोरसिंह का स्वर्गवास हो गया। इस देवी ने 'अवध-विलास' 'कृष्णविलास' और 'राधा-विलास' नामक ग्रंथों की रचना की। इनकी नायिका-नायक-सृष्टि-कला का अवलोकन निम्नलिखित पद्यों में कीजिये:—

(१)

क्यों कृपा दोष पिय को लगावत ।
तो हित चन्द्रमुखी चातक यनि परसन कूँ नित चाहत ॥
हैं बहु नारि रसीली प्रज में चावो सुम कोइ चाहत ।
तो हित बृन्दावन राधे सब सखियन रास दिखावत ॥
तेरो रूप हिमे में धारत नित निरखत सुख पावत ।
विष्णुकुँवरि राधे तव चरननि हाय जोड़ि सिर नावत ॥

(२)

छोड़ि कुल कानि और आनि गुरुलोगन की,
जीवन तु एक निज जाति हित मानी है ।
दरस उपासो प्रेम-रस की पिमासो वाके,
पद को सुदार्ता दया-दीठि की विकानी है ॥
भ्रामुल-मयंक की चढोरी ये सुखोरी बीच,
ब्रज की किरति है ई मोरी दुख सानी है ।

जिन्हें अतिमानी चख-पुतरी सो जानी,

हम सों ते रारि ठानी अब कूबरो मिठानी है ॥

(३)

नैन कू प्यारे करि रख्यो श्याम ।

प्यारी के धारने जाउ मैं नैन सों मेरो काम ।

प्रजसुन्दरी कहौ मेरी मानो प्राण ते प्यारी वाम ॥

छैल की प्यारी सुनो राधेरानी तुम्हें देख नहिं काम ।

विष्णुकुँवारि रीझि पिय बोली छोड़ नैन के नाम ॥

(४)

चुन्दावन-पावस छाये ।

चहुँ दिसि कारे अम्बर छाये नीलमणो प्रिय मुख छाये ॥

कोयल कूक सुमन-कोमल के कालिंदि कूज सुहायो ।

विष्णुकुँवरि जग श्याम रँग छाये श्यामहि सिंधु समायो ॥

(५)

सुन्दर सुरंग अंग अंग वै अनंग वारो,

जाके पद-पंकज में पंकज दुखारो है ।

पीत पटवारो मुख मुरली सँवारो प्यारो,

कुण्डल झलक मुख मोर पंख धारो है ॥

कोटिन सुधाकर को मुखमा सुहाव जाके,

मुख माँ लुभातो रमा रंभा सी दजारो है ।

नन्द के दुलारे श्रीमशोदा के पियारे,

जैन भक्त सुख सारे सो हमारे रखवारे हैं ॥

(६)

निरमोहो कैसे जिय तरसावै ।

पहले कलक दिखाय हमै कूँ अब क्यों बेगि न आवै ।

कप सों तलफत में रो सजनो बाको दरद न आवै ।

विष्णुकुँवारि दिल में था करके ऐसो पीर मिटावै ॥

(७)

थवै मन जाओ प्राण-पियारे ।

तुम्हें देख मन भयो ठमँग में मेरो चित्त खुराये रे ॥

कहा कहूँ या छवि बलिहारी नैनन में उहराये रे ।

विष्णुकुँवारि पकड़ि चरनन को थरथस हृदय लगाये रे ॥

(८)

बाजै रो रँसुरिया मनभावन की ।

तुम हो रसिक रसीली बंशी अति सुन्दर या मन की ।

या मुख ले बाको रस पीवे अंग अंग मुख या तन की ॥

या मुख की मैं दासि चरन रज दोठ मुख उपजावन की ।

शोभा निरखत सखी सखे मिलि विष्णु कुँवरि सुख पावन की ॥

(९)

रूप परस्पर दोऊ लुभाने ।

नैन नैन सब मोहि रहे हैं सब हैं हाथ बिकाने ।

अधिक प्रिया प्यारी की छवि पर करत न कछु अनुमाने ॥
प्रिया हुलस प्रीतम-अग लागे बहुत उच्चक ललचाने ।
विष्णुकुँवरि सखियाँ मय योनों मन मेरो उमगाने ॥

(१०)

श्याम सों होरी खेलन आई ।

रंग गुलाल की फोरि लिये सब नवला सज-सज आई ।
याके नैन चपल चल रीकै प्रियतम पै टकटकी लगाई ॥
होड़ी-होड़ी देख-देखा होरी की रँग छाई ।
उतै मखन संग आय बिराजे सुन्दर त्रिभुवनराई ॥
इतै सखिन संग होरी खेलन राधेजू चलि आई ।
बाभ्रार अयाँ उढावै डार कृष्ण रँग धाई ॥
दाऊजी पिचकारि चलावै सुन्दर मारि हटाई ।
मधुर मधुर मुसुकात जाय पकड़े हलधर को भाई ॥
राधेजू के नवल यदन से साकी देय हटाई ।
निखि अनूपम होरी खेलन सब ही हँसे ठाई ॥
विष्णुकुँवरि सखियाँ सब छोड़ी हलधर भे सुखदाई ।



चन्द्रकला



चन्द्रकला बाईं धूँदी के कवि और दीवान कविराज राव गुलाब सिंह की दासी की पुत्री थीं। स्वयं चन्द्रकलाजी ने अपना परिचय इस प्रकार दिया है:—

वरस पंच-दस की यय मेरी ।

कवि गुलाब की हूँ मैं चेरी ॥

बालहिं ते कवि-संगति पाई ।

साते तुक जोरन मोहिं आई ॥

बाईजी का जन्म लगभग संवत् १९२३ में हुआ। उन्होंने अपने समय में सामयिक पत्रों में समस्या-पूर्तियाँ करने में विशेष भाग लिया। इनके सम्बन्ध में एक रोचक प्रसंग उल्लेख-योग्य है। उन्होंने दिनों बलदेवप्रसाद अवस्थी नाम के एक कवि अवध के राजा प्रताप बहादुरसिंह के यहाँ राजकवि के रूप में रहते थे। इनकी भी समस्या-पूर्तियाँ बड़ी टकसाली होती थीं। चन्द्रकलाजी पर बलदेवजी की कवित्व-शक्ति का बड़ा प्रभाव पड़ा और उन्होंने उनसे पत्र

ज्यवहार करके दूँदी आने के लिए निमंत्रित किया। पत्र के साथ उन्होंने निम्नलिखित सवैया भी लिख भेजी थी:—

दीन-दयाल दया के मिलो,
 दरसे बिनु पीतत हैं समै मोचन ।
 सुद्ध सतोषु ही के मने ते,
 विसंकिट सुल सनेह सकोचन ॥
 तोरि दियो तरु धीर-कगार के,
 हूँ सरिता मनो बारि विमोचन ।
 चन्द्रकला के बने बलदेवजी,
 बावरे से महा लालची लोचन ॥

बलदेवजी दूँदी तो नहीं जा सके, किन्तु उन्होंने चन्द्रकला के प्रति अपना स्नेह प्रकट करने के लिए चन्द्रकला नाम की एक पुस्तक ही की रचना कर डाली। उसमें प्रत्येक पद्य के अन्त में चन्द्रकला शब्द का प्रयोग किया। नमूने के रूप में कुछ पद्य देखिए:—

कहा हूँ है कछु नहिं जानि परै सब अंग अङ्गुली अङ्गुली ॥
 उतै मोचिन मैं बलदेव अचानक हृदि अचानक अङ्गुली ॥
 हंसि के मे अयान दया न दहै ई अङ्गुली अङ्गुली अङ्गुली ॥
 चले फौन ये जात लिये मन मो सिद्धि के अङ्गुली अङ्गुली ॥
 चन्द्रकलाजी के नायिका अङ्गुली अङ्गुली अङ्गुली ॥
 देखी जाती है, जिसका अङ्गुली अङ्गुली अङ्गुली ॥

कवियों द्वारा शताब्दियों पहले निर्मित हुआ था और उस समय भी प्रभाव था । वाईजों का राशिका का देखा—

(१)

एहो प्रजराज फत घैटे हौं निकुंज माँहि,
 कोन्हों तुम मान ताकी सुधि कछु पाई है ।
 साते वृषभानुजा सिंगार साजि नीकी भौँति,
 सखियाँ सयानी संग लेय सुलदाई है ॥
 'चन्द्रकला' लाल धवलोके और भारग को,
 भारी भय-दायिनी अपार भीर छाई है ।
 रावरो गुमान अति बल अति भट मानि,
 जेयन को फौज लैके मारिये को धाई है ।

(२)

नैकी एक केश की न समता मुकेशी लहै,
 नैनन के आगे छागी कमल रुमालची ।
 तिल सी तिलोत्तमाहू रति हू रती सी लगे,
 मनमुख उड़ रहै लाल हित लालची ॥
 'चन्द्रकला' दान आगे दीन कण्ठवृद्ध लागी,
 वैभव के आगे जागे इन्द्रहू कुदालची ।
 धन्य धन्य राधे वृषभानु को दुलारी तोहि,
 जाके रूप आगे लगे चन्द्रमा मसालची ॥

(३)

'बैठे हैं गुपात 'जाल प्यारी बर बालन में,
 करत कलोल महा मोद मन भरिगे ।
 साही समै आती राधिका को दूरही तें देखि,
 'सौतिन के सकल गुमान' गुन 'जरिगे ॥
 'चन्द्रकला' 'सारस से तिरछी चित्तीनिवारे,
 नैन अनियारे नैकु पी की ओर डरिगे ।
 नेह नहै नायक के ऊपर सतच्छन ही,
 तीच्छन मनोभव के पाँचो बान भरिगे ॥

(४)

ध्यान धरै तुम्हरो नितियासर नाम तुम्हार श्रै बिसरै ॥
 गावत है गुन प्रेम-पगी मन जोवत है छिन दीठि टरै ना ॥
 'चन्द्रकला' वृषभानु-सुता अति छीन भई तन देखि परै ना ।
 बेगि चलो न बिखंन करौ अति व्याकुल है वह धीर धरै ना ॥

बाईजी का कृष्ण का वर्णन भी उसी कोटि का है । नीचे के
 पद्यों में देखिए:—

(१)

राति कही रमि कै प्रभात प्रान-प्यारी पाम,
 आये धनस्याम स्याम यारी धारि प्रान को ।

अधर अनूप माँहिं काजर की रेल धारि,
 लाल लाल खोचन पै छाखी पोष-पान की ॥
 'चन्द्रकला' द्विकल कलाधर अनेक धरे,
 लखि उर गाढ़ बोली बेटी वृषभातु की।
 इन्द्रजाल ढाली गल घाली कौन बाल भाज,
 भाउन रसाज लाल माल मुक्तान की ॥

(२)

यिन अपराध मनमोहन को दाँप धामि,
 काहे मनमान धारि प्यारी दुख पावै है।
 बलि री निरुंज माँहिं मिलि री पिया सों बेगि,
 मन बव काम लाय तो ही धरि ध्यावै है।
 'चन्द्रकला' तेरे ही सनेह सने एक पाय
 ठाढ़े हैं जमुना तीर पोर सरसावै है।
 लै लै नाम तेरो ही बलाने तोहिं प्रान प्यारी,
 सुनि रो गुपाल लाल बाँसुरी बजावै है ॥

(३)

नटवर बेध साजि मदन लज्जाने लाल,
 मन हरि लीने हाल नारिन के जाल की।
 अमित स्वरूप धारि नखसिख सोभा सानी,
 राख्यो गहि हाथ हाथ भिन्न भिन्न बाल की ॥

'चन्द्रकला' गाय गीत अमृत सनेह सने,
 चरनत नारदादि जस जनपाल के ।
 सुमन समूह बरसावत बिमान चढ़े,
 देखि देखि देव रासमण्डल गोपाल के ॥
 संवत् १९६० में बाईजी स्वर्गलोक को सिधार गयीं ।



गिरिराज कुंवरि



गिरिराज कुंवरि रियासत भरतपुर की राजमाता थीं।
 का जन्म संवत् १६२० में हुआ। आपने 'श्रीव्रज
 विलास' नामक ग्रंथ की रचना की। उसकी भूमिका में आप
 जो विचार प्रकट किये हैं, उनसे परिचित होकर हमें विशेष प्रसन्न
 हुई। आपने लिखा है:—

“स्त्री का सांसारिक देव पति और पारमार्थिक श्री गौरी
 महाराज हैं। इन्हीं दोनों को प्रसन्न करने में स्त्री को इस (गान)
 विद्या में भी निपुण होना चाहिये।”

कृष्ण-काव्य करनेवाली अनेक देवियों की कविताओं
 परिचय हम पिछले पृष्ठों में दे चुके हैं; यत्र-तत्र हमने इस बात
 स्नेह प्रकट किया है कि काव्य-रचना करते समय देवियों ने
 पुरुषों की तरह लज्जाहীনता से काम लिया। ओमती गिरि
 कुंवरि ने भी कृष्ण-काव्य ही किया है, परन्तु उनकी रचना में

वालापन नहीं दिखायी पड़ता, जो विचारों का अंकुश नपाने पर छट्छलता के रूप में परिणत हो जाता है। फिर भी श्रीकृष्ण को पी अथवा अन्य किसी स्त्री का पारमार्थिक पति मानकर उस बन्ध को सांसारिक व्यवहारों की भाषा में प्रकट करने में भी खतरा रहता है उससे स्वभावतः श्रीमतीजी की लेखनी भी ईं बचसकी है। उदाहरण के लिए नीचे का पद्य देखिये:—

धंसी बज रही तनक तनक मैं, नय मेरो टूट गई झगरे मैं ।
मैं दधि बेचन जात घृन्दायन, शोक लई झगरे मैं ॥
दधि मेरो छाय मडुफिया कोरो, घरी बाके खपरा परे नरे मैं ।
दुलारी तोर चूँदा झटकी, घरी जाने दारी चाँह गरे मैं ॥
अव दजपति हँसि घात घनाचै, झारत नोन जरे मैं ॥

किन्तु यदि हम श्रीमतीजी के 'कृष्ण' का पूरा परिचय पायें तो उनके काव्य की अलौकिकता सहज ही हम पर अपना भाव डाल दे। जिन श्री कृष्ण के

मेर मुकुट शिर पंच कलंगी सजत झूमका कादन में ।
नैन विशाज कुटिल भृकुटी छवि छाय रही अति आनन में ॥
तेज लसै मुख ऊपर जितनेो इतनेो नहिं शत भानन में ।
नके प्रेम-रस में मग्न होकर गोपिका क्यों न इस प्रकार कहें:—

(१)

दरशन की लगी आस अब मैं कहाँ जाऊँ ।

महल तिवारे मोय न चाहिये, दूरी सुपरिया बास ॥

श्रीजुगलप्रिया



श्रीमती . महारानी कमलकुमारी उपनाम श्री 'जुगलप्रिया' ।
जन्म संवत् १९२८ में ओड़छे के महाराज श्रीमान् महेंद्र
महाराज प्रतापसिंहजू देव बहादुर के यहाँ हुआ । इनकी माता
श्रीमती वृषभानुकुंवरि देवी बड़ी कृष्ण-भक्त थीं । माता के प्रभाव
से श्रीमती-कमलकुमारी में भी भक्ति-भावों का विकास हुआ ।
स्वभावतः आपने अपने आराध्यदेव श्रीकृष्ण को अपनी कविता का
विषय बनाया है । यह हर्ष की बात है कि श्री जुगलप्रिया अधिकांश
में कृष्ण-काव्य करके भी उसके प्रचारक अन्य कवियों की दुर्बल-
ताओं से दूर रही हैं । श्रीमतीजी की श्रीकृष्ण-प्रेम से पूर्ण हुए
कविताएँ नीचे देखिए—

(१)

राधा चरन की हूँ मरन ।

छत्र चक्र सुषम राजत सुफल मनसा करन ॥

ऊर्ध्व रेखा जब धुजादुति सकल सोभा धरन ।
 मंजु पद गज-गति सु कुंडल मीन सुभरन बरन ॥
 थप कोन सुवेदिका रथ प्रेम आनंदभरन ।
 कमल-पद के आसरे नित रहत राधा-रमन ॥
 काम-दुख संताप-भंजन बिरह-सागर तरन ।
 कलित कोमल सुभग सीसल हरत जिय की जरन ॥
 जयति जय नय नागरी पद सकल भव-भयहरन ।
 शुगल प्यारी नैन निरमल होत लखि लखि किन ॥

(२)

शुगल-छवि कब मनन में आवै ।

भोर सुकृत की लटक चन्द्रिका मटकारो लट भावै ॥
 गर गुंजा गजरा फूलन के फूल से मन सुनावै ।
 नील कुंकुल पीत पट भूषण मनभावन दरसावै ॥
 कटि किंकिनि कंकन कर कमलनि कनित मधुर धुनि द्यावै ।
 'शुगल प्रिया' पद-पदुम परमि कै अनत नहीं मधुपावै ॥

(३)

माई भोकों शुगल नाम निधि माई ।

सुख संपदा जगत की मूठी आई संग न जाई ॥
 लोभी को धन काम न आवै अंतकाल दुखदाई ।
 जो जोरे धन अधम कर्म तें मर्यम चलै नसाई ॥

कुल के धरम फढ़ा लै कीजै भक्ति न मन में आई ।
'जुगलप्रिया' सब तजौ भजौ हरि चरन-कमल मग जाई ॥

(४)

इग तुम अपलता सजि देहु ।
गुजरहु चरनारविन्दनि होय मधुप सनेहु ॥
दसहुँ दिसि जित तित फिरहु किन सकल जग रस लेहु ।
पै न मिलिहै अमित मुख फहुँ जो मिलै या गेहु ॥
गहौ प्रीति प्रतीति दृढ़ ज्यों रदत घातक मेहु ।
बनो चारु चकोर पिय मुख-चन्द छवि रस पदु ॥

श्रीमतीजी ने शृंगार रस की भी कुछ हृदय-स्पर्शिनी कविता लिखी हैं। इनके भी कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं:—

(१)

प्रीतम रूप दिखाय लुभावै ।
थातै जियरा अति अकुलावै ॥
जो कीजत सो तौ भल कीजत अब काहँ तरसावै ।
सीखी कहॉ निदुरता एतौ दोषक पोर न लावै ॥
गिरि के मरत पतंग जोति है ऐसेहु खेल मुढावै ।
सुन लीजै बेदरद मोढ़ना जिनि अर मोहि सतावै ॥
हमरी हाय चुरी या जग में जिन बिरहाग जरावै ।
'जुगल प्रिया' मिलि वो अनमिलिबो एकहि भाँति लसावै ॥

(२)

बाँकी तेरी चाल सुचितवनि बाँकी ।

जय हीं आवत जिहि मारग हो मुमक मुमक भुकि भाँकी ॥

द्विप द्विप जात न आवत सन्मुख लखि लीनी छवि छाकी ।

'जुगल प्रिया' तेरे छल-बल तें हों सब ही बिधि थाकी ॥

(३)

नैन मोहन रूप छकेरी ।

सेत स्याम रसगारे प्यारे ललित सलोने रँग रँगै री ॥

बाँकी धितवनि चंचल तारे मनो कंज पै खंज अरे री ।

'जुगल प्रिया' जाके उर भाये अधिक बावरे सोई भये री ।

(४)

सखी मेरी नैननि नौद दुरी ।

पिय सों नहि मेरो बस कबु री,

तलफि तलफि यों ही निसि बीतति नीर बिना मझुरी ॥

उड़ि उड़ि जात प्रान-पंखो तहँ बजत जहाँ बैसुरी ।

'जुगल-प्रिया' पिया कैमे पाऊँ प्रगट सुप्रीति जुरी ॥

(५)

नैन सलोने खंजन भीन ।

चंचल तारे यति अनियारे, मनवारे रसलोने ॥

मेत स्याम रतनारे बाँके, फजरारे रँग भीन ।
 रेसम दोरे ललित लजीले, दीले प्रेम अधीन ॥
 अलसोहैं तिर छौहैं भौहैं नागरि नारि नवीन ।
 'जुगुल प्रिया' चितवनि में धायल होवैं छिन-छिन धीन ॥

श्रीमतीजी केवल भक्त और कवि ही नहीं, किन्तु आदर करने तथा उसके विकास में सहायता प्रदर्शनी देवी भी थीं। आपके इसी गुण की उपज प्रसाद द्विवेदी हैं, जिन्हें हिन्दी-संसार अधिकतर के रूप में जानता है। श्रीयुत हरिजी देवीजी को अपने रूप में मानते हैं। देवीजी का देहावसान आंड़छे में संवत् १९७८ हुआ। इनके देहान्त के बाद ही हरिजी ने अपने नाम के साथ 'विद्योगी' शब्द जोड़ा। अत्यन्त हृदय-स्पर्शी शब्दों में उन्होंने लिखित पद्यों में इस प्रसंग की चर्चा की है:—

धरायो तबहि विद्यांगी नाम ।

जा दिन ते गुहचरन चन्द्र नख अथये ललित ललाम ।
 ता दिन ते ही थिकल बावरो बसत विरह के नाम ।

रामप्रिया ❀ ❀ ❀

श्रीमती महारानी रघुराजकुँवरि का, जिनका उपनाम 'राम-प्रिया' था, जन्म लगभग संवत् १९४० में और विवाह प्रतापगढ़ के राजा सर प्रतापबहादुरसिंह के साथ हुआ था। आप ने 'रामप्रिया-विलास' नामक पद्य-पुस्तक की रचना की और कविता का विषय श्रीराधा-कृष्ण को नहीं, श्रीसीता-रामचन्द्र को बनाया। सीता का चित्रण निम्नांकित पद्यों में देखिए:—

(१)

मृग-मन हारे मीन खंजन निहारि वारे, . . .
 प्यारे रत्नारे कजरारे अनियारे हैं ।
 पैर सर धारे कारी भृकुटि धनुष-वारे, . . .
 सुठि सुकुमारे शोभा सुमग सुदारे हैं ॥
 कैधौ हैं जलज फारे कैधौ ये त्रिगुण युक्त, . . .
 . . . चन्द्रमा पै चंचला के चपल सिलारे हैं ।

‘राम प्रिया’ राममन-रमन अँगारे कैधौ,
जनक-किशोरी याँके लोचन तिहारे हैं ॥

(२)

सिय-मुख चंद त्याग दूजो चन्द मंद कहीं,
कौन गुण जानि समता मैं अवलोकों मैं ।
मुख भक्तलंकी सकलंकी तू प्रसिद्ध जग,
कहि समझाऊँ कैसे चाको जाय रोकों मैं ॥
दिवा धुति-होन घन समय मलीन-खोन,
‘राम प्रिया’ जानै तोहि जन सब लोकों मैं ।
लखी-मुख लालिमा गुलाब सों लखात जैसे,
तैसी दरसावो तो सराहीं तब तोकों मैं ॥

(३)

किसुक गुलाब कचनार औ धनारन के,
बिकसे प्रसूनन मलिन्द छवि धारै री ।
‘बेली बाग बीधिन वसंत की बहारें देखि,
‘रामप्रिया’ सियाराम मुख उपजावै री ॥
जनक-किशोरी युगकर तैं गुलाब रोरी,
कीन्हें बरजोरी प्यारे मुख पै लगावै री ।
मानों रूप-सर ते निकसि अरविन्द युग,
निकसि मयंक मकरंद धरि लावै री ॥

जनक के धनुष-यज्ञ में श्रीरामचन्द्र के पहुँचने और आसन पर आसीन होने के समय की शोभा का वर्णन उन्होंने इस प्रकार किया है:—

हरपित अंग भरे हृदय उमंग भरे.

रघुवर आयी मुद चारों दिसि ब्यै गयो ।

सुन्दर सलोने सुभ्र सुखद सिँहासन पै,

जनक सप्रेम जाय आसन जयै दयो ॥

‘रामप्रिया’ जानकी को देखत धनूप मुख,

पंकज कुमुद सम दूजे नृप ब्यै गयो ।

मानों मंशि-मंडित शिखर पै मयंक तापै,

मंजु दिनकर प्रात प्राची सो उदै भयो ॥

प्रसंगवश श्रीमत्तोजी ने शंकर का भी वर्णन किया है । निम्न-लिखित कवित्त देखिए:—

नंगा अरधंगा शीश-गंगा चन्द्रभालवारो,

बेल पै सवार विप-भोजन करयो करै ।

अपाल-मुँह-माल प्रेम-दमरु त्रिशूल-धारी,

महा विकराल चिता-भसम धरयो करै ॥

योग-रंग-रंगा चार चाखत धतुर अंगा,

अद्भुत कुङ्गा देखि बालक डरयो करै ।

‘रामप्रिया’ अलब तमासे चेलु देखु-देखु,

ऐसी एक योगी राम-पावन परयो करै ॥

रानी रघुवंशकुमारी ❀

श्री मती रघुवंशकुमारी का जन्म संवत् १९२५ ज्येष्ठ
 सप्तमी को भगवानपुराधीश राजा सूर्यभक्तिसिंह
 यहाँ हुआ। आपका विवाह सुलतानपुर जिले में दियरा नाना
 राज्य के अधिपति राजा रुद्रप्रतापसाहि से हुआ। अवधेन्द्र प्रता
 साहि, कोशलेन्द्रप्रतापसाहि तथा सुरेन्द्रप्रतापसाहि नाम के तीन
 पुत्र-रत्न आप को प्राप्त हैं। आजकल, सास और पति से बिदा
 होने पर, आप राजमाता दियरा कही जाती हैं।

रानी रघुवंशकुमारी की प्रशस्ति कविता की ओर ध्यानपूर्वक
 हो से रहा है। अनुकूल परिस्थितियों में आपको रचना-साधक
 शक्तियों का विकसित होने का अच्छा अवसर मिला। आपने
 भामिनी-विलास, धनिता-बुद्धि-विलास, तथा सूपशास्त्र नामक तीन
 ग्रंथों की रचना की है। इनकी कविता में एक विशेषता है। लगान
 वैसी ही, जैसी भामती गिरिराजकुंवरि की कविता में है। प्रशस्त

गिरिराजकुंवरि की कविता में हमने उनके इस मत का उल्लेख किया था कि वे पति को स्त्री का सांसारिक और श्रीकृष्ण को पारमार्थिक देव मानती थीं। रानी रघुवंशकुमारी पति को इहलोक और परलोक दोनों का सिद्धि का साधन मानती थीं। वास्तव में साधारण शक्ति-सम्पन्न हमारे समाज को रानी रघुवंशकुमारी द्वारा प्रदर्शित आदर्श ही ग्रहण करना अधिक श्रेयस्कर होगा। निम्नलिखित पथों में रानी महोदया के पति-भक्ति-पूर्ण विचार देखिए—

(१)

पग दावे ते जोपन मुक्ति लही ।

विष्णुपदां सम पति-पदपंकज छुयत परमशुद्ध होवे सही ॥

निरखि निरखि मुख अति सुख पावत प्रेम समुद्र के धार बही ।

मिथो सिद्ध सकल सुख दें सो लक्ष्मी पद हरि के गही ॥

जहाँ पति-प्रीति तहाँ सुख सरयस यहाँ बात सुति साँच कही ।

(२)

पिय चलती येरियाँ, कछु न कहे समझाय ।

तन दुख मन दुख, नैन दुख हिय मे दुख को खान ।

मानो कबहे ना रही, वह सुख से पहचान ॥

मन में मालम अस रही, जनम न छोड़ति पाय ।

विषुदन लिखा लिखार में, तासों कहा बसाय ॥

मालम विषुदन कठिन है करक करेजे दाय ।

तीर लगे निकसे नहीं, जब लौ प्राण न जाय ॥
जगन्नाथ के सिंधु में, होंगी को गति लोय ।
तास भति पिय के विरह में, हाय हमारी होय ॥

(३)

पिय के पदकंजन-राती ।

बिष्णु चिरंचि संभु सम पति में छिन छिन प्रेम लगाती ।
तन मन यवन छांड़ि छल मामिनि पति सेवन बहु भाँती ॥
कथहुँ नहि प्रीति सुनाती ।

पिय के० ॥

दासीसम सेवति जननीसम खान पान सब लाती ।
सखिसम केलि करत निसिवासर भगिनी सम समकाती ॥
बंधु सम संग-सँगाती ।

पिय के० ॥

प्रिय पति विरह अमरपुङ्ख में रहति सदा अकुलाती ।
पतिसँग सवन बिपिन को रहियो सेवन रस मदमाती ॥
हृदय मानहि बहु भाँती ।

पिय के० ।

नहिंन झार रहति नहि परघर एकाकिन कहि जाती ।
मूँदति नैन ध्यान उर ध्यानति, 'गुनवति' पति गुन गाती ।
नहिं मन मोद समाती ।

पिय के० ॥

(४)

फिरै चारिहु धाम करै मन कोटि कदा जहु तीरथ तोय पिये तैं ।
जप होम करै अनगंत कछु न सरै नित गंग नहान किये तैं ॥
कदा धेनु को दान सहस्रन बार तुला गज हेम करोर दिये तैं ।
'रघुवंशकुमारी' कृपा सब है जब लीं पति सेवै न नारि हिये तैं ॥

रानी साहब के कुछ अन्य फुटकर छन्द भी देखिए:—

(१)

जेहि के बल संकर सुद्ध हिये घरि ध्यान सदाहिं जपै गुन गाम ।
जेहि के बल गोध अजामिल हूँ सेवरी अति नीच गई सुरधाम ॥
जेहि के बल देह न मोह कछु वसुधा बस कीनों सथै सुर-काम ।
धनु बान लिये तुम थोड़हु जाम अहो श्रोराम बसौ उर-धाम ॥

(२)

सीतल मन्द सुगंध समीर लगे जधि सजजन की प्रिय बानी ।
फूलि रहे बन-बाग समूह लहै जिमि कीर्ति गुणाकर जानी ॥
नीक गयीन सुपल्लव सोह बढै जिमि प्रीति के स्वारथ जानी ।
गान रे कल कीर चकोर बढै जिमि विप्र सुमंगल बानी ॥

(३)

कहत पुकार कोइलिया हे अतुराज ।
न्याय-दृष्टि से देखहु विपिन-समाज ॥

सोना संपत्ति काज त्यागि सब साज ।
 भये उदासी विरिथा . विसरा लाज ॥
 ध्यान करहु इत यत्र सुध कम नहि लेत ।
 तीक्ष्ण यहत बयरिया करस अचेत ॥



सरस्वती देवी



श्रीमतो सरस्वती देवी का जन्म १ पौष कृष्ण संवत् १९३२ में हुआ था । इन्होंने निम्नलिखित दोहों द्वारा अपना परिचय अपने ही शब्दों में इस प्रकार दिया है:—

जिता जु आजमगद यहै ता महीं एक विचित्र ।
ग्राम कोहरियापार के कवि द्विज रामचरित्र ॥
ताको कन्या एक मैं मूर्च्छि मूर्च्छता केरि ।
कुलवंतिन-पद धूरि अस गुणवंतिन की चेरि ॥
मम शिषक कोठ और नहिं निज ही पिता सुधान
कठिन परिश्रम करि दियो विद्या-दान महान ॥
प्रथम पढ़ायो व्याकरण पुनि कछु कान्य-विचार ।
तदनन्तर सिखयो गणित बहुरि सुरीति प्रकार ॥
तब कछु उर्दू फारसी दँगला चर्चा सिखाय ।
कछु अंगरेजी अपरन पितु मोहिं दीन्ह दिखाय ॥

जय लगि मैं मैरे रही लिंगन पस्त रहि निठ ।

अय धर पर परयस परी रहि नहिं सकन मुचित ॥

महाकवि पं० अयोव्यासिंह उपाध्याय का कहना है कि वे सहृदय हैं और सरस रचना करती हैं तथा इनकी रचनाएँ अत्यन्त मधुर और हृदयप्रादुरागी हैं, सरस्वती देवीजी ने अपने कवि-द्वारा स्त्रियों को सदुपदेश देने की चेष्टा की है। उनके निम्नलिखित पद्य देखिए:—

(१)

सजन सम्बन्धी जे सुमति के तिहारे होहिं,

तिन्हें अपनायो चतुराई लिये हाथ में ।

नम्रता बदन माहिं मित्रता सुनारिन सों,

शत्रु-भाव राखिये कुनारन के साथ में ॥

भाखिये सुधैन दास-दासिन सों प्रेम-सँग,

धारिये सुध्यान सदा शुभ गुण-नाथ में ।

सारिये सकल गृह-काज सुघराई साथ,

वारिये पवित्र प्रीति पति प्राणनाथ में ॥

(२)

भुणख दुधार एक बार एक ठौर पेन्ड,

पेन्डहु सुजाति यामे हानि अति भारी है ।

धूमरु औ कर्क आदि बजती विशेष छड़े,

छमा छम शब्द जासो सब गुन जारी हैं ॥

ध्यान हू न होय जाको तव प्रीति ताकी टोठि,
 फेरिये की पूरी अधिकारी मनकारी है ।
 करहु कदापि अह्मीकार ये सिंगार नाहिँ,
 पतिव्रत-धारी सुनो बिनय हमारी है ॥

(३)

नारी-धर्म अनेक हैं, कहाँ कहाँ लागि सोय ।
 करहु सुबुद्धि विचार ते, तजहु जु अनुचित होय ॥
 हानि लाभ निज सोचि कै, काजहिँ होहु प्रयुक्त ।
 सुख पायहु तिहुँ लोक में, यश बादै नित नित ॥

नीचे के पद्य में अंकित मानिनी राधा का चित्र कितना
 मनोहर है :—

पेसी नहीं हम खेलनहार बिना रस रीति करें बरजोरी ।
 चाटै तजौ तजि मान कहाँ फिरि जाहिँ घरे धृषभाजु-किशोरी ॥
 चूक भई हम से तो दया करि नेकु जखो सस्त्रियान की छोरी ।
 ठाकी अई मन-मारि सबै बिन तोहिँ बनै नाहिँ खेलत होरी ॥



द्वितीय भाग



राजरानी देवी



विक्रम की बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में हिन्दी-काव्या-काश में एक नवीन नक्षत्र का उदय हुआ, जिसने तमसाच्छन्न हिन्दी-साहित्य-जगत् को एक नवीन आभा प्रदान की। यह नक्षत्र हरिश्चन्द्र के रूप में प्रकट हुआ और उस समय उसने जो आलोक उपहार-रूप में प्रस्तुत किया, वह इतना व्यापक, विमल और हृदय-कुमुद-रंजक सिद्ध हुआ कि प्रेमियों ने उसे 'भारतेन्दु' की उपाधि दे डाली। भारतेन्दु ने जो नवीन प्रकाश दिया, जिस नवीन सन्देश की घोषणा की, वह था देश-प्रेम। प्रेम विषय पर कविता करके उन्होंने अपना सम्बन्ध जैसे प्राचीनों से जोड़ रक्खा था, वैसे ही देश-भक्ति विषयक हृदय-द्रावक कविताएँ लिखकर उन्होंने सामयिक सामाजिक परिस्थिति से भी अपना नाता निवाहा। प्रस्तुत शताब्दी की जितनी अन्य देवियों का उल्लेख हम पहले कर आये हैं उन तक हरिश्चन्द्र के इस संदेश की लहर नहीं पहुँच सकी थी; इस सन्देश

को सर्वप्रथम हृदयंगम करने का श्रेय श्रीमती राजरानी देवी ही मिलना चाहिए ।

श्रीमती राजरानी देवी ने मध्यप्रान्त के नरसिंहपुर जिले के विपरिया नाम के गाँव में, संवत् १९२७ में, जन्म ग्रहण किया । बचपन की अवस्था में, आपका विवाह श्रीयुत लक्ष्मीप्रसाद वर्मा के साथ हुआ । देवीजी के नौ पुत्र तथा चार कन्याएँ हैं; प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी अध्यापक याचू रामकुमार वर्मा एम्० ए० का ही के सुपुत्र हैं । देवीजी ने 'प्रमदा-प्रमोद' और 'सती-संयुक्ता' नामक दो पुस्तकें लिखी हैं । नीचे के पन्नों में, जो 'सती-संयुक्ता' से लिये गये हैं, आप देवीजी के देश-भक्ति विषयक उद्गायनों को देखिए—

(१)

देवियो ! क्या पतन अपना देखकर;

नेत्र से आँसू निकलते हैं नहीं ?

भाग्य-हीना क्या स्वयं को लेखकर,

पाप से कलुषित हृदय जख्मते नहीं ?

क्या तुम्हारी बदन-श्री सब खो गई,

उच्च गौरव का नहीं कुछ ध्यान है ?

क्या तुम्हारी आज अवनति हो गई ?

क्या सहायक भी नहीं भगवान हैं ?

हो गये क्यों भीष्म अत्याचार हैं,

इस तुम्हारे फूल से सुदुर्गन्ध पर ?

मच रहे क्यों आज हाहाकार हैं,

अब नृशंसों के महाठरपाठ पर ?

क्या न अब कुछ देश का अभिमान है ?

खो गई सुखमय सभी स्वाधीनता ।

हो रहा कितना अधिक अपमान है ?

समुद्र इसको कौन सकता है बचा ?

मय-हरिद्रा-रंग-रंजित भंग में,

सर्वदा सुख में तुम्हीं खवलीन हो ।

प्रण्य-बन्धन के अनूप प्रसंग में,

दूसरे ही के सदा आधीन हो ।

बस तुम्हारे हेतु इस संसार में,

पथ-प्रदर्शक अब न होना चाहिये ।

सोच लो संसार के कान्तार में,

बढ़ होकर यदि जिये तो क्या जिये ?

कर्म के स्वच्छन्द सुखमय क्षेत्र में,

किङ्किणी के साथ भी तलवार हो ।

शीर्ष हो खखल तुम्हारे नेत्र में,

सरसता का भंग पर मृदु-भार हो ।

सुखद पतिव्रत धर्म-रथ पर तुम चढ़ो,

बुद्धि ही चंचल अनूप तुरंग हो ।

विष्णुजीवन के समर में तुम बढो,

शत्रु के प्रण-शीघ्र ही सब भंग हों ।

हार पहनो तो विजय का हार हो,
 दुन्दुभी यश की दिगन्तों में बजे।
 हार हो तो बस यही व्यवहार हो,
 छन चिता पर नाश होने को सजे।
 मुक्त फणियों के सदृश कथ-जाल हों।
 कामियों को शीघ्र हसने के लिए।
 अरुणिमायुत हाथ उनके काल हों,
 सत्य का अस्तित्व रखने के लिए।

(२)

भव्य भारत-भूमि की स्वाधीनता,
 जय यवन से पद-दलित था हो चुकी।
 दीलसी सर्वत्र थी अति दीनता,
 फूट की विष घेलि भी थी वो चुकी॥
 पूर्ण-यश का चीण स्मृति ही शेष थी,
 घोरता केवल कहानी ही रही॥
 बंधुओं में बंधुता निरशेष थी,
 दमन की परिपूर्णा धारा थी बही॥
 शत्रुओं को दण्ड देने के लिए,
 धार्य-योग्यता में न हतनो शक्ति थी।
 घोरता का नाम लेने के लिए,
 गगन के भीन्दर्य पर ही मति थी॥

जलित जलनाएँ बनी सुकुमार थीं,
 शत्रु पर आभूषणों का भार था ।
 रत्न-हारों पर समुद्र बलिहार थीं,
 तेज ही संसार का सब सार था ॥
 नेत्र लड़ना ही सुखद रण-रङ्ग था,
 शत्रु चितवन ही अनोखा तीर था ।
 क्यों न हों ? जय प्रियतमों का सङ्ग था,
 प्रियतमाओं-युक्त हिन्दू वीर था ॥
 नेत्र-गोपन का चिबुक-सुम्नन जहाँ,
 प्रेम की विधि का अनूप विधान है ।
 मातृ-भू के प्राण की गाथा वहाँ,
 पापियों के पुण्यगान समान है ॥
 किङ्किणी को नाद अस्ति-भङ्गार है,
 भू-धपलता है जलित कौरव जहाँ ।
 वीररस होता जहाँ शृंगार है,
 देश-गौरव की शिथिलता है वहाँ ॥

श्रीमतीजी का 'संयुक्ता' का यह रूप-वर्णन भी सुन्दर है:—

हो रहा कछीज में आनन्द है,
 हरे की धारा नगर में है यही ।
 बैर और विरोध विलकुल मन्द है,
 सब जनता आज दण्डित हो रही ॥

भीड़ भारी हो रही प्रासाद में,
 खुल गया है द्वार मारे कोप का ।
 नर तथा नारी हुए उन्माद में,
 गूँज उठता शब्द ऊँचे घोष का ॥
 नारियाँ सब चल पड़ीं शृंगारकर,
 राज-गृह की ओर अनुपम हृष में ।
 मधुरिमा-मय सुखद जय-जयकारकर,
 हृदय के आनन्द के उत्कर्ष से ॥
 थालियों में फूल-मालाएँ सर्जि,
 गीत गा-गाकर चलीं सुकुमारियाँ ।
 हाव-भावों में स्वयम् रति को लजा,
 मन-सहित कच बाँध सुन्दर नारियाँ ॥
 मुग्ध मुग्धाएँ चलीं क्रीड़ा-सहित,
 शीघ्र सकुचाकर पुरुष की दृष्टि से ।
 मंद गति से वे चलीं क्रीड़ा-सहित,
 नेत्र चञ्चलकर सुगन की वृष्टि से ॥
 या बड़े आनन्द का कारण वही,
 एक पुरी थी हुई जयचन्द के ।
 हर्ष से थी उमगती सारी मही,
 आ गये थे दिन अधिक आनन्द के ॥
 देव उमरी छवि अनूप सुधामयी,
 ये चकित सब व्यक्ति नगरी के महा ।

सोचते थे हृदय में पुरजन कहे,
 रूप ऐसा मानवों में है कहाँ !
 चन्द्रमा का सार मानो भर दिया,
 बालिका की नवल सुन्दर देह में ।
 स्वयं धो ने वास मानो कर लिया,
 सरल उसके कान्तिमय मुख-गोह में ॥

+ + +

जिस किसी की छाँव उस पर पड़ गई,
 देखते ही देखते दिन बीतता ।
 बस उसी के हृदय पर भी चढ़ गई,
 बालिका के रूप की लोनी लता ॥
 चार घुमन में सदन था गूँजता,
 समुद्र राका रुचिर हास-विलास था ।
 कौन उनके हृष को सकता बता,
 जननि का उपमा-रहित उद्वेग था ॥
 रुचिर भयिमय पालने की सेज पर,
 बालिका कर-कण्ठ मधु उषाजती ।
 तब जननि सपत्नी उसे थी चाँखभर,
 बार-बार दुलारकर पुष्पकारती ॥

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ही की तरह श्रीमतीजी में शृंगाररस
 की सुन्दर रचना करने की भी शक्ति है । नीचे की पंक्तियाँ हमारे
 इस कथन की प्रमाणित करती हैं :—

उन्मादिनी

विषम प्रमथन के प्रकोप से, बखरेंगे जब केश कड़ाप ।
 वयोक्ष्णानल के प्रखर ताप से, मन में जब होगा सन्ताप ।
 मधुर अक्षिमा-रहित बनेंगे, शुष्क कपोल घाप ही भार ।
 लव धरयो की ओर देखकर, रह जाऊँगी मैं चुपचाप ॥
 तब क्या बनमाजो आकर, दुख-नय से मुझे उबारेंगे ।
 अपने कोमल हाथों से मृदु, अक्षकावली सुधारेंगे ॥
 मुरली की मृदु तान झाड़कर, शान्ति-सुधा चरमावेंगे ।
 शुष्क कण्ठ से बहड मिठाकर, कोमल-ध्वनि से गावेंगे ॥



धम है मुझे ललित ललिका का, समझ न जाऊँ मैं बनमाज ।
 कृपण समझकर बड़े प्रेम से, धूम न लूँ मैं कहीं तमाल ॥



करते थे, वैसे ही देश की वेदना अपनी पंक्तियों द्वारा प्रकट सिद्धहस्त थे। साथ ही इतना और जान लेना आवश्यक है कि दम्पति में से हर एक ने दूसरे को प्रभावित किया। कहा जाता है लालाजी की 'वीर पंचरत्न' नामक पुस्तक की रचना देवीजी की प्रेरणा का फल था। जो हो, श्रीमती बुँदेला-बाला की रचनाओं ने यह स्पष्ट कर दिया कि हिन्दू-समाज के भविष्य से चिन्तित आशंकित रहनेवाले पुरुषकवि यदि देशानुरागपूर्ण लिखने की प्रवृत्ति को नहीं रोक सकते थे, तो स्त्री-कवियों के तो यह और भी असम्भव था। माताओं का हृदय, भारत होता है, और जब कवि हुए बिना भी उसकी करुणा का पान नहीं रहता, तब कवित्व-शक्ति सम्पन्न होने पर उसकी हृदय-द्राविणी लेखनी के चमत्कार का क्या कहना ! नीचे देवीजी के देश-भक्ति पूर्ण थोड़े से पद्य दिये जाते हैं:—

(१)

माता और पुत्र की बात-चीत

माता—

हे प्यारे ! कदापि तू इसको तुच्छ रयाम-रेखा मत मान ।
 यह है शैल हिमाचल इसको भारत-भूमि-पिता पहिचान ॥
 नेह-सहित ज्यों पितृ-पुत्रों का सादर पालन करता है ।
 यह हिम-गिरि क्योंही भारत-हित पितृ-भाव दिय धरता है ॥
 गंगा जमुना युगल रूप से प्रेम-धार का देकर दान ।
 भारत-भूमि-रूप दुहिता का नेह-सहित करता सम्मान ॥

पुत्र—

यह जो बाम ओर नक्शे के रेखाग्रय अतिशय अभिराम ।

शोभामय सुन्दर प्रदेश है मुझे बता दे उसका नाम ॥

माता—

बेटा मह पञ्जाब देश है पुण्य-भूमि सुख-शान्ति-निवास ।

सर्व प्रथम इस भूल पर आकर किया आरियों ने निज वास ॥

कहीं गान-ध्वनि कहीं वेद-ध्वनि कहीं महामंत्रों का नाद ।

यश फूल से रहा सुवासित यह पञ्जाब-सहित आह्लाद ॥

इसी देश में यस के 'पोरस' ने रक्खा है भारत-मान ।

जब सम्राट सिकन्दर आकर किया चाहता था अपमान ॥

इससे नीचे देख, पुत्र, यह देश दृष्टि जो आता है ।

सकल बालुका-मय प्रदेश यह राजस्थान कहाता है ॥

इसके प्रति गिरिवर पर बेटा अरु प्रत्येक नदी के तीर ।

देश मान दित करते आये आत्म-विसर्जन चरित्र्य वीर ॥

कोई ऐसा स्थान नहीं है जहाँ अमर चिन्हों के रूप ।

वीर कहानी रजपूतों की लिखी न होवे अमर अनूप ॥

चरित्र्य-कुल-धवतंस वीरवर है प्रतापजी का यह देश ।

रानी 'पदमावती' सती ने यहीं किया है नाम विशेष ॥

चरित्र्य वंश-जाति को चाहिये करना इसको नित्य प्रणाम ।

चरित्र्यदल का जग में इससे सदा रहेगा रोशन नाम ॥

(२)

चाहिये ऐसे बालक !

परशुराम भीराम भीम अर्जुन उदात्तक ।

गौतम शङ्कर-सरिस धर्म सत् के सम्मानक ॥
 उरसाही हृद अङ्ग प्रतिज्ञा के प्रतिपादक ।
 शारीरिक मस्तिष्क शक्ति-बल अरिगण-घातक ॥
 काज करें मन साय, वनै शत्रु न उर-शातक ।
 अब भारतमाताहि चाहिये ऐसे बालक ॥१॥
 दुर्बल अरु भयभीत सदा, जो कहत पुकारी ।
 "अरे बाप ! यह काज हमें सुभव अति भारी" ॥
 "मैं नाहीं कर सकत" शब्द मुख तें न उचारी ।
 "हाँ करिहौ उद्योग", सहित उरसाह पुकारी ॥
 सत्यभाव से कहैं करें अरु वनै न दातक ।
 अब भारतमाताहि चाहिये ऐसे बालक ॥२॥
 जो करना है, उसे करें, अपने निज हाथन ।
 देश-भलाई हेत करें अभिलाषा लाखन ॥
 कठिन परिश्रम देखि न कयहुँ मन ते हारैं ।
 भारी भार निहार न कयहुँ कंधा डारैं ॥
 करें काज यनि कुज-कलङ्क-कारिण-प्रवृत्तातक ।
 अब भारतमाताहि चाहिये ऐसे बालक ॥३॥
 देखि कठिन कर्त्तव्य उसे जू-जू जनि जानैं ।
 अपना धर्म विचार उसे अपना करि मानैं ॥
 ऐसे बालक जबहि देश के मुखिया कहैं ।
 सब भारत के सकल दुःख दारिद्र्य नरैं ॥
 मिटिहैं हित को ताप और कटिहैं जभातक ।

• अब भारतमाताहि चाहिए ऐसे बालक ॥

(३)

सावधान !

सावधान हे युवक-उमङ्गों, सावधानता रखना खूब ।
 युवासमय के महा मनोहर विषयों में जाना मत हूब ॥
 सर्वकाज करने के पहले पूछो अपने दिल से आप ।
 "इसका करना इस दुनिया में, पुण्य मानसे है या पाप" ॥
 जो उत्तर दिल देय तुम्हारा उसे समझ लो अच्छी भाँति ।
 काज करो अनुसार उसी के नष्ट करो दुःखों की पाँति ॥
 कभी भूल ऐसी मत करना अच्छी के लालच में आज ।
 देना पड़े कहह हो तुमको रत्नमालसम निज कुल-लाज ॥
 युवासमय के गर्म रक्त में मत बोधो तुम ऐसा बीज ।
 वृद्ध समय के शीत रक्त में, फूल चिन्ता फल कुलाज ॥
 परचात्ताव कुतस नेत टपके बदनामी-गुठली रुद होय ।
 ठै गली उठै घाट में चलते, मुँह भर यात न बूझै काय ॥
 यौवन अतु बसन्त में प्यारे कुसुम सपूत देखि मत भूल ।
 दबा-दबाकर युक्ति-सहित रख निज उमंग के सुन्दर फूल ॥
 सावधान ! इनको विनष्टकर फिर पीछे पछतावेगा ।
 वृद्ध वयस सम्मान सुगन्धित फिर कैसे महकावेगा ॥
 परमेस्वर के न्याय-नुला की दंडी जग में जाहिर है ।
 उसको उँच नीच कलु काना मानव बल से बाहर है ॥
 अहंकार, सर्वदा जगत् में मुँह की खाता थाया है ।

नय नयता मान पाते हैं, सयने बड़ा यताया है।
 है प्रत्येक भव्यता के हित इस जग में निरुद्धता एक।
 विषय रूप मिठाई मध्य है विषमय यामय-कीट बनेक॥
 हृन्दि-विषय शिखर दूरहिं ते महा मनोरम लगते हैं।
 भिन्न जाय जांचे समझोगे, रूपहरामी लगते हैं॥
 है प्रत्येक कंच में नौचा, प्रति मिठास में कड़वा स्वाद।
 प्रति कुरम में शर्म भरो है मर्म खोय मत हो बरबाद॥
 प्रकृति-नियम यह सदा सत्य है कैसे इसे मिटाओगे।
 जग में जैसा कर्म करागे वैसा ही फल पाओगे॥
 सच्चे प्रेम का देखो जी ने निम्नलिखित पद्यों में बहुत सुन्दर
 रूप अंकित किया है:—

प्रेम-पथ परिदे कहाँ, जियरा का सुख-चैन।
 धक-धक करि हियरा कहै, उठि पिय देश चखैन॥
 प्रेम मिया-ला पी छुके, ताका सुनी इवाले।
 तिल सम कोरा कुबेर को, सुर मयि राई दास॥
 प्रेम-पथ को गूढ़ सुख, प्रेमिहिं सके बताय।
 बे-शान्ती जानी नहीं, दाँत बाय रहि जाय॥
 प्रेम-तत्व अति गूढ़ है, बुद्धि न सके बताय।
 पहुँचि न पावै बीच हो, ठकि कशूर लों जाय॥
 बड़ो आचरन जगन् में, कहिये काहि सुनाय।
 यानी भजो दिवात है, जो चित लेय पुराय॥
 तुमहि बतावत ठोक में, प्रेमिन की पहिचान।

दगन-भोर बरसै तऊ, मुखड़ा रहा मुरान ॥
 कैसी दशा वियोग का, तुमहिं कहाँ समुझाय ।
 दमयन्ती सीता सती, जान्यो कहाँ न हाय ॥
 प्रेम पंथ में जो मजा, सो जान्यौ मसूर ।
 लोग कहैं फाँसी चढ़ा, पहुँचा श्याम हज़ूर ॥
 जे नर प्रेमो जनम की, हेसी करत मुसुकाय ।
 उरपौ, उनको धर्म कहें, जग सरि नहिं बहि जाय ॥
 दैचन हित मद प्रेम को, जो पिय धरै दुकान ।
 तो मैं निज नयनन करूँ, वा दर को दरबान ॥



गोपालदेवी



श्री

मती गोपालदेवी का जन्म संवत् १९४० में विजयनगर में हुआ। आपके पिता पं० शोभाराम और माता श्रीमती

सरस्वतीदेवी ने आपको घर पर ही अच्छी शिक्षा देने का प्रयत्न किया। अठारह वर्ष की अवस्था में आपका विवाह पं० सुदर्शन चार्ज बी० ए० से हुआ। पंडितजी का सहयोग पाकर आपने स्त्री-शिक्षा के प्रचार के लिए बहुत उद्योग किया; 'शृङ्खला' नामक उपयोगिता मासिक-पत्रिका का प्रकाशन इसी उद्योग का एक फल था। आपही की प्रेरणा से उक्त पंडितजी ने 'शिक्षा' नामक बालोपयोगी मासिक-पत्र का संचालन किया। देशी-देशानुराग का भाव प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। देवियों से सत्र से प्रथम आप ही के कार्यों में, स्त्रियों और बच्चों के क्षेत्र में देशभक्ति का भाव क्रियात्मक रूप में दिखलायी पड़ा। आपने सम्पादन-काल में हिन्दी-साहित्य के भीतर भारत-सम्बन्धी कविताओं की उसी तरह धूम मचाई थी, जैसी आज छायावादी

गी । हर एक कवि भारत की आर्त्त दशा पर कुछ न कुछ पंक्तियाँ लेख जाते ही मैं अपने जीवन की सार्थकता समझता था । देवीजी ने ऐसी कविताएँ लिखने में अपना समय न लगाकर यशों और प्रत्यशिक्षा-सम्पन्न स्त्रियों का मनोरंजन कराने को ओर विशेष ध्यान दिया । नीचे की कविताएँ पाठक देखें:—

चमगीदड़

एक बार पशु और पक्षियों में उन गयी लड़ाई घोर ।
चमगीदड़ ने सोचा 'हूँगा जो जीतेगा उसकी ओर' ॥
कई दिनों के बाद लख पड़ी उसे जीत जब पशु-दल की ।
धाय मिला पशुओं में क्रौर्य करने लगा बात छुप की ॥
“भाई ! मैं भी मुझसे हूँ पशु के मुँह में सब लक्षण ।
पशुओं से मिलते हैं मेरे रहन-सहन, भोजन-भक्षण ॥
दाँत हमारे पशुओं के-से मादा ब्याती बच्चों को ।
सब पशुओं के ही समान वह दूध पिनाती बच्चों को ॥
सुन उसकी बातें पशुओं ने अपने दल में मिला लिया ।
अगले दिन पक्षी-दल ने पशुओं पर भारी विजय किया ॥
उसी समय पक्षी-सेना ने चमगीदड़ को पकड़ लिया ।
घमड़ाकर चमगीदड़ ने पक्षी-नायक से विनय किया ॥
“आप हमारे राजा हैं, हम भी पक्षी कहलाते हैं ।
फिर क्यों हम अपने ही दल से बृथा सताये जाते हैं ॥
देखो पंख हमारे, हम उड़ते हैं, पेड़ों पर रहते हैं ।
हाथ आज झुकी शंका-चश अपने दल में दुख सहते हैं ॥”

सुन चमगोदह की बातें पत्तो-नायक ने छोड़ दिया ।
 जान सचो चमगोदह की तब उसने जय-जयकार किया ॥
 हुई लड़ाई अन्त, अन्त में सुलह हुई दोनों दल में ।
 भेद खुला चमगोदह का सारा सब लोगों में पल में ॥
 तब से वह ऐसा शर्माया दिन में नहीं निकलता है ।
 अन्धेरे में छिपकर चरता नहीं किसी से मिलता है ॥
 समय पड़े जो धानों दल की करते हैं 'हाँ जी, हाँ जी' ।
 वे चमगोदह के समान दोनों की सहते नाराजी ॥

धोबी और गधा

किसी एक धोबी ने कपड़े ले आने ले जाने को ।
 एक गधा पाला, पर उसको देता थोड़ा खाने को ॥
 एक बार धोबी कपड़े धा खला घाट में आता था ।
 कपड़ों से गदहे को उसने घुरी तरह से लादा था ॥
 पड़ता था रस्ते में जंगल वहाँ लुटेरे दोल पड़े ।
 डर से होश उड़े धोबी के और रोंगटे हुए खड़े ॥
 कहा गये से, "अबे भाग चल, देख लुटेरे आवेंगे ।
 मारें पीटेंगे मुझको वे तुम्हे छीन ले जावेंगे ॥
 कहा गये ने धोबी से तब "मुझे छीन वे क्या लेंगे ?"
 धोबी बोला—“बड़ी-बड़ी गठरी तुझ पर वे लादेंगे ।”
 कहा गये ने, दया कगे मत उनसे मुझे बचाने की ।
 गद्दी नेक भी चिन्ता मुझको उनसे पकड़े जाने की ॥
 'मेरे लिए एकमा ही है, जहाँ कहीं भी जाऊँगा ।

वहीं लदेगा योक्त बहुत, औ योका भोजन पाऊँगा ॥
 "मुझे आप के पास अधिक कुछ भी सुख की आशा होती ।
 संग तुम्हारे तो अवश्य रहने की अभिलाषा होती" ॥
 गथा छोन ले गये सुटेरे धोबी मन में पछताया ।
 कष्ट बहुत से दिये गधे को हा ! उसका यह फल पाया ॥

भेड़ और भेड़िया

नदी किनारे भेड़ खड़ी एक सुख में पीती थी पानी ।
 एक भेड़िये ने लख उसको मन में पाप-भुद्धि ठानी ॥
 बिना किसी अपराध भला मैं इपका कैसे करूँ इतन ।
 उसे मारने को यह जी में लगा सोचने नया यत्न ॥
 कर विचार आकर समीप यों बोला कपट-भरा बानी ।
 "धरो भेड़ तू यही दुष्ट है क्यों करती गँदला पानी ॥"
 क्रोध-भरी लख आँख विचारी भेड़ रही दुरु वहाँ सहम ।
 बोली—“क्यों अपराध लगाते हो चितलाते नहीं रहम ॥
 मैं तो पीती हूँ पानी तुमसे नीचे की घोर ।
 भला कहीं होती भी होगी जल की उलटी दौर” ? ॥
 सुनकर उसके बचन भेड़िया फिर बोला उसपे ऐसे -
 पारसाल उस पेड़-तले तूने दी थी शाखी कैसे ?”
 दारकर भेड़ विनय से बोली मन में उसको ज़ालिम जान ।
 “मैं तो घाठ महीने की भी नहीं हुई हूँ, कृपानिधान !”
 “कहाँ तलक तेरे अपराधों को दुष्टा मैं कहा करूँ ।
 है यहस करती वृथा तू मैं भुल कहाँ तक सदा करूँ ॥

तू न सहो तेरी माँ होगी," यों कहकर वह भपट पड़ा।
 भेड़ विचारो निरपराध को तुरन्त खा गया खड़ा-खड़ा ॥
 जो ज़ालिम होता है उससे यस नहिं चलता एक।
 करने को वह जुस्म बहाने लेता डूँद अनेक ॥

मौत और घसियारा

फिसी गाँव में एक घसियारा। रहता था किसमत का मारा।
 बेटे-बेटी जोड़ू जाता। कोई न, थे, अलजा से माता ॥
 पर जब पापी पेट न माना। उसने घास छीलना ठाना।
 ठोक दुपहरी जेठ महाना। सिर से पावों बड़ा पसीना ॥
 बुढ़ा लगा खोदने घास। हाथ पेट यह तेरे घास।
 खाँद-खाँदकर थोका बनाया। थोड़ा दूर उसे ले आया ॥
 पर जब थककर हुआ बेहाल। थोका पटरु रोया तत्काल।
 होकर दुखी लगा चिल्लाने। "मौत गयी तू कहाँ, न जाने ॥
 धरी मौत तू आजा-आजा। मुझ पर ज़रा रहम तू लाजा।
 क्या मौत को उस पर आई। उसने अपनी शकल दिखाई ॥
 माली—“बुढ़े! कहा क्या कहता। क्यों नहिं कर्म-भाग तू सहता” ॥
 आगे देख मौत घसियारा। सिरपिंशय रह गया विचारा।
 पर फिर बोला सोच-विचार। “देवो तुम्हें जगत्-आधार ॥
 बड़ी कृपा की तुमने मात। मुझ बुढ़े को सुन ली बात।
 मैंने इसको कष्ट दिया है। थोका घाम का बाँध लिया है ॥
 पर मुझपे नहिं जाय उठाया। इसपे माना तुम्हें बुलाया।
 आप लगा दे नेक महारा। इतना ही बस काम हमारा” ॥

कीरतिकुमारी



श्री मती महारानी पण्डितारिनी माँ साहबा, उपनाम 'कीरति कुमारी' का जन्म फाल्गुण शुद्ध नवमी संवत् १९५२ को हुआ। आप रीवा की राजमाता हैं। आपकी कविता का विषय राधा-कृष्ण है। आपने श्रीकृष्ण का चरित्र अंकित करने में प्रचलित प्रणाली ही से काम लिया। जितनी महिला-कवियों की कविताएँ पिछले पृष्ठों में दी गयी हैं उनसे 'कीरतिकुमारी' जी की रचनाओं में, भाषा की दृष्टि से, एक भिन्नता है। राजमाता महोदया की कविता में फारसी बह का उपयोग पाया जाता है तथा उसमें फारसी भाषा के शब्दों की भी प्रचुरता है। नीचे के पद्यों में उनका श्रीकृष्ण-चित्राङ्ग अवलोकन कोजिए:—

(१)

बादल करके मेरे स्थान दगा दी तुने ।
गैरों के रहके यारी रात गुमा दी तुने ॥

शाम से रात तनीश्वर में गुजारी मैंने ।
 क्या बिगाड़ा या मेरी जान सजा दी तूने ॥
 जान जाती है मेरी तुम्हको मजा आता है ।
 वादा करके भी मुहब्बत को घटा दी तूने ॥
 तुम मिलो या न मिलो मैं तुम्हें भूलूँगी नहीं ।
 मिल गये गरसो जो 'कोरति' को बना दी तूने ॥
 रातभर घर में मिल करके मजा दो तूने ।
 लगी थी आग मेरे दिल में बुझा दो तूने ॥
 मिल गये नन्दलाल क्या करूँ उनकी मैं अब ।
 लेके उलूक का मजा खूब चला दो तूने ॥
 रात की बात सखी क्या कहूँ कुछ कह न सकूँ ।
 मिल गये श्याम मुझे रात जिला ली तूने ॥
 हो गये कोर्ति-पिया अब न किनारा करना ।
 अब तो मिलना पड़ेगा बान लगा दी तूने ॥

(२)

अब तो मोहन से भी लागी लगन,

हम प्रिय प्यारे की छवि में मगन ॥

धंग-धंग युगल शोभा सँवार,

लहर दोउन लावत कोटि मदन ॥

मुमकात दोऊ अब मन्द-मन्द,

दामिनि सो चमकत दोउन रदन।

‘कीरति’ उन निवभतु युगल प्रिये,
रहे ध्यान सदा तब युगल युगल ॥

(३)

लोलो के करैया नेकु माखन चोरैया,
दधि दूध के लुटैया रास-मंडल रचैया हैं ।
गिरि के धरैया धज हृदय बचैया,
गवं इंद्र के हरैया वल्लभगोपिन चोरैया हैं ॥
वृषासुर दूष्ट शय बक के बधैया,
प्राण दासन रखैया घट-घट के रमैया हैं ।
सोई दीनानाथ आज ‘कीरति कुमारी’ गृह,
जनम लेवैया दुख दारुण हरैया हैं ॥

(४)

कातावह कृति काली नाग के नथैया,
लावि कमल पठैया नन्द-संकट हरैया हैं ।
मथुरा लवैया बल राजक लुटैया,
बोई क्यरी हरैया पोट कवल हनैया हैं ॥
दुखदाई कंस का विष्वं क मुईस जोई,
निज दान दासन क दुख के हरैया हैं ।
सोई दीनानाथ आज ‘कीरति कुमारी’-गृह,
जनम लेवैया दुख दारुण हरैया हैं ॥

(५)

हमारे श्यामसुन्दर को इशारा क्यों नहीं होता ।
 पड़ा है दिल सड़पता है सहारा क्यों नहीं होता ॥
 हुई सुख से दिवाना न तूने खबर ली मेरी ।
 मरीजे-इरक में मरना हमारा क्यों नहीं होता ॥
 न कल दिनरात है मुझको सुदाई में तेरे प्यारे ।
 लयों पर जान ग्राई है सहारा क्यों नहीं होता ॥
 न धुनियाँ मुझको भानो है न मैं भानी हूँ दुनियाँ को ।
 मगर 'कीरति' का दुनिया से कितारा क्यों नहीं होता ।



तोरनदेवी 'लली'



श्रीमती तोरणदेवी का जन्म प्रयाग में पंडित कन्हैयालाल तिवारी के यहां श्रावण शुद्ध द्वादशी संवत् १९५३ में हुआ। इनका विवाह रायबरेली-निवासी पंडित कैलाशनाथ शुद्ध वी० ए०, एल्-एल्० बी के साथ हुआ। इनके पुत्र पंडित हरिहरनाथ शुद्ध 'सरोज' भी अच्छी कविता करते हैं। 'लली' जी ने देशभक्तिसम्बन्धी कविताएँ करने की ओर अपनी प्रवृत्ति रखी। नीचे की पंक्तियों में देश-वैदना से मन्त्राहत आपके हृदय की कैसी मधुर अभिव्यक्ति हुई है:—

(१)

नवसंवत्

यहो सोचती हूँ नवसंवत् !

कैसी होगी तेरी—

बे नई लहर की धड़ियाँ ।

जब सबके हृदयों में होगा, सहज आत्म-अभिमान ।
जब सब भाँति प्रदर्शित होगा, माता का सम्मान ॥

जब टूट चुकेंगी सारी—

इस हृदय बन्धन की कड़ियाँ ।

जब नारी सतवन्ती होंगी, लाज बचानेवाली ।
जब शिशुओं के मुख पर होगी, स्वतंत्रता की लाली ॥
जब समय आप पहनेगा, सुन्दर मोती की लड़ियाँ ।
'लाली' विश्व में गूँज उठेगा, अमर राष्ट्र का गान ॥
जिसके प्रति शब्दों में होगा, देश-धर्म का ज्ञान ॥

नव संवत् ! तब देखूँगी—

वे तेरी सुख की कड़ियाँ ।

(२)

प्रणाम !

सादर सस्नेह प्रणाम आज, उन चरणों में शतकोटिवार !

माता के लाल लट्ठे थे,

भगिनी के वीर बाँकुरे थे,

माँभाग्यवान जीवन के थे -

जीवन ये प्राण-पियार थे ।

वे सब की भारी आशा थे, ये लग्नभूमि के होनहार ॥

वे देश-प्रेम मतवाले थे,

माता के चरण पुनारी थे,

पुरुषों में थे वे पुरुष-सिंह,

कर्त्तव्य-धर्म-व्रत-धारी थे !

प्राणों को हँसकर छोड़ दिया, पर प्राण न तजा अपना अपार !!

वे ज्ञानवान थे, योगी थे,

अनुपम त्यागी थे, सज्जन थे,

वे घोर हठोले सैनिक थे,

तेजस्वी थे, विद्वज्जन थे !

कर्त्तव्य-कर्म की ओर बड़े, फल की सारी सुख-बुख विसार !!

तम-पूर्ण निशा में ज्योति हुए,

पथ-दर्शक कंटकमय मग के,

सरकर भी हैं वे अमर बने,

आदर्श हुए भावी जग के !

मंगलमय या बलिदान और वे थे भारतमाँ के भ्रूंगार !

सादर सत्तेह प्रणाम आज, उन चरणों में शतकोटिवार !!

‘लली’ जी श्रीकृष्ण के स्वरूप का अंकन करने को ओर ध्यान नहीं दिया, किन्तु देशोद्धार के लिए उनकी कृपा का आवाहन अवश्य किया है देखिए:—

(१)

मनमोहन श्याम हमारे !

अब फिर कब दर्शन होंगे ?

शबरी गणिका भीध अजामिल

सब को लिया उबार ।

द्रुपदसुता की लाज बचाकर

कर गज का उद्धार ।

हे दीनन के रखवारे,

क्या मेरी भी सुध लोगे !

भूली नहीं मधुर मुरली की

विरव विमोहनि तान ।

नाथ आज भी जाग रहा

बह गोता का शान ।

(२)

जसुदा के लाजन प्यारे कब कुँजों में विहरोगे !

कब हे आराध्य हमारे हमसे फिर आन मिलोगे !

सुख से ही परिपूरित होगा मिट जायेंगे पलेश ।

केवल 'लली' हमो आशा पर जोवित है यह देश ।

ललीजो ने ईश्वर का दर्शन भी देश-प्रेम ही के अभिमत
और देश-सेवा के प्रयत्न ही में करने का उद्योग किया है। नीचे
की पंक्तियों में उनका यह भाव बहुत सुन्दर ढंग से व्यक्त हुआ है:-

अभिलाषा

मुझसे मिल जाना इकबार ।

कहीं-कहीं मैं दूँ ब रक्षी हूँ, कब से रहे पुकार ।

मुझसे मिल जाना इक्यार ॥
 नव-कुसुमों की कुञ्ज-लता में,
 निशितारों की सुन्दरता में,
 सरल हृदय की उज्ज्वलता में,
 कुसुमित दल की माधुरता में ।
 कितना तुमको खोज चुकी हूँ,
 जिसका वार न पार ।
 मुझसे मिल जाना इक्यार ॥
 सरिता की गति मतवाली में,
 प्रिय वसन्त की हरियाली में,
 बाल-प्रभाकर की लाली में,
 निशा-नाथ की उजियाली में ।
 आशावादी बनकर लोचन,
 अब तक रहे निहार ।
 मुझसे मिल जाना इक्यार ॥
 अब देखूँगी उत्थानों में,
 देश-प्रेम के अभिमानों में,
 धीर-धैर्य के गुण गानों में,
 अमर सुषरा शुभ सम्मानों में ।
 दर्शन होते ही तज दूँगी,
 हिय-वेदना थपार ।
 मुझसे मिल जाना इक्यार ॥

देवीजी ने 'कलिका' शीर्षक निम्नलिखित कविता में नायिका का बहुत सुन्दर रूप अंकित किया है:—

कलिका

नव कलिका तुम कब बिकसी थीं,
इसका मुझको ज्ञान नहीं ।
हुई समर्पित श्रीचरणों पर,
कब इसका कुछ ध्यान नहीं ॥

हृदय-संगिनी सरल मधुरता—
में देखा अभिमान नहीं ।
सच है गुण, धन, यौवन-मद का,
दुनियाँ में सम्मान नहीं ॥

इसी हेतु सब श्रेष्ठ गुणों से,
पूरित तुमको अपनाया ।
नव कलिका जब तुमको देखा,
तभी पूर्ण विकसित पाया ॥

नन्दन धानन में सुरभित—
होने की तुमको चाह नहीं ।
हृदय घेचकर हृदय-स्थल तक,
जाने को है दाद नहीं ॥

मंत्र-मुग्ध से जग-जन होवें,
इसकी कुछ परवाद नहीं ।

इन पवित्र मुसकानों में है,
 छिपी हुई वह आह ! नहीं ॥
 प्रेममयी इस अलिखित-विश्व को,
 अचल प्रेम से अपनाना ।
 यदि मिल आवें युगल चरण वह,
 तुम उन पर खलि हो जाना ॥

देवीजी के काव्य में सौम्यता और स्वच्छ भावुकता का समावेश
 पाया जाता है । अतएव उनका साधुशीलता की खोज करना
 स्वाभाविक ही है । सुशीलता की प्राप्ति में वे विश्व-विजय-हर्ष
 का अनुभव करने की कल्पना करती हैं । नीचे की पंक्तियाँ
 देखिए:—

यह मैंने माना जीवन-धन !
 सुन्दरता जीवन का मूल ।
 इस मायारूपी प्रपञ्च में
 सरल अगत जाता है भूल ॥
 रमणी के चञ्चल नयनों का,
 या सौन्दर्य प्रकृति का जाल ।
 तोड़ सका है इस पृथ्वी पर,
 धिरला ही माई का लाल ॥
 किन्तु मधुर फल जीवन का
 यदि साधुशीलता पाऊँगी ।

यह आशा है अखिल विश्व पर

पूर्ण विजय पा जाऊँगी ॥

किन्तु उक्त पदों में 'रमणी के चंचल नयनों का' की साथ हमारी समझ में नहीं आयी । यह हिन्दू महात्मा कथन की प्रतिध्वनि तो नहीं है, जिसे देवीजी ने अज्ञातमें अपनी वाणी में भी स्थान दे दिया ?

देवीजी के जीवन में उद्यता की झलक मिलती है; निम्नलिखित 'संदेश' में हमारे लिए बहुत ऊँचा संदेश मिलता

उनपर ही जीवन न्योछावर, जिनका उज्ज्वल पुण्य-प्रताप
जिन्हें न बेध सका जगती का दुःख, शोक, दारुण संताप ॥
जिनकी बाट जोहती आशा, जिनसे शक्ति होता पाप ॥
जिनके चरणों पर भ्रष्टा से, नत मस्तक हो जाता आप ॥
उनकी ही सेवा में मेरा, यह संदेश सुना देना—
यदि जाने पाऊँ तो उनके, चरणों तक पहुँचा देना ॥





श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान

सुभद्राकुमारो चौहान ❀ ❀

सत्य के वास्तविक रूप के सम्बन्ध में विद्वानों में सदा से मतभेद रहा है। यह मत-भिन्नता आश्चर्य की वस्तु नहीं। कारण यह कि सूक्ष्म-से-सूक्ष्म बुद्धि से लेकर स्थूल-से-स्थूल बुद्धि के अनुसंधान का विषय होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति का अनुभव अपनी ही कूँची और रंग से उसका चित्र चित्रित करने की चेष्टा करता है। सत्य ही एक ऐसी वस्तु है जिसके सम्बन्ध में सर्वथा विरोधी मत रखनेवाले दो व्यक्तियों के कथन का भी सामंजस्य हो सकता है। उदाहरण के लिए एक पक्ष का कहना है कि सूर्य स्थिर है और दूसरे पक्ष का आप्रह है कि वह गतिशील है। इन दोनों मतों का मिलन सरलता से उस स्थान में हो सकता है जहाँ यह स्वीकार कर लिया जाय कि दर्शक का दृष्टि-कोण ही इस विषय का प्रधान निर्णायक है। रेलगाड़ी में खड़े होकर हम पेड़ों को दौड़ते हुए देखते हैं; किन्तु पेड़ के पास खड़े होकर हम देखते हैं कि वे अचल हैं। वास्तव में पेड़ का दौड़ना उतना ही

सत्य है जितना उनका अचल होना। दृष्टिकोण-विशेष हमें सत्य के रूप-विशेष को हृदयंगम करने के लिए प्रेरित करता है।

दो और दो मिलकर चार होते हैं, यह एक सामान्य सत्य है। इस सत्य में कला का कोई प्रवेश नहीं। यही नहीं, इस सत्य में यदि हम कला को ढूँढ़ निकालने के लिए आतुर हों तो हमें कला का शब्द-कोश के पृष्ठों से लोप ही कर देना चाहिए। यदि कला किसी प्रकार की सौन्दर्य-सृष्टि नहीं करती तो उसका संज्ञा ही व्यर्थ है। उसका जन्म तभी सार्थक है जब वह जहाँ कहीं प्रवेश करे वहीं चमत्कार की, सौन्दर्य की, उद्भावना करे। हमने यह कहा है कि सत्य का निर्विवाद रूप से स्थिर कोई रूप नहीं। जो इतना अस्थिर है, अनिश्चित है उसकी आराधना कला किस प्रकार कर सकती है—यह एक उचित प्रश्न है जिसके ओर प्रत्येक विचारशील व्यक्ति का ध्यान आकृष्ट होना चाहिए किन्तु सत्यरूपी भगवान् शिव लावण्य अथवा तरंग की तरंगों जैसे भी अप्राप्य क्यों न हों, सतरंगी इन्द्र-धनुष की तरह मनुष्यों में कैसे भी न आ सकनेवाले क्यों न हों, किन्तु यह निश्चित है। गौरी रूपी कला को उन्हीं की आराधना में रत रहना पड़ेगा नियति का ऐसा ही विधान है।

एक दिन एक सज्जन अपने एक मित्र के यहाँ मिलने गये। मित्र महोदय ने उनसे कहा—तुम मूर्ख हो। जानेवाले सज्जन ने भी कहा—तुम मूर्ख हो। कथन की यह शैली वास्तविक

वदना को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करती है । किन्तु कलाकार ने इसे किस रूप में उपस्थित किया है, नीचे के दोहे में देखिए—

मित्र तुम्हारे वदन पर, मूर्खता दरसात ।

मो मुख-दर्पण विमल अति; आजु प्रगट भो तात ॥

सत्य और कला का जो स्वरूप मित्रों की वास्तविक बातचीत और कवि के उक्त दोहे में प्रकट हुआ है उससे पाठकों के सम्मुख यह बात तो स्पष्ट हो जानी चाहिए कि सत्य कला के बिना भले ही रह सके, किन्तु कला का अस्तित्व सत्य के बिना संभव नहीं । आखिर कला किसका सौन्दर्य-गान करेगी ?

बाबू रामकुमार वर्मा एम्० ए० का कथन भी इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है । श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान की कविता का परिचय लिखते हुए, 'मुकुल' नामक काव्य-संग्रह में, वे प्रसंगवश लिखते हैं:—

“कला का आदर्श सत्य से कुछ भिन्न है । यद्यपि आजकल के आलोचक 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' को ही कला की परिभाषा मानते हैं, पर वे यदि वस्तुओं के अन्तरतम स्थान में पहुँचने का कष्ट उठावें तो उन्हें अपनी परिभाषा परिष्कृत करना पड़ेगा । मैं तो कला का अस्तित्व वहाँ तक मानता हूँ जहाँ तक वह किसी कलाकार के हृदयस्थ किसी भाव-विशेष से सम्पर्क रखती है । और जब वह भाव-विशेष प्रकाश में आता है तो निष्पत्ति एवं स्पष्ट रूप से । हम कलाकार से प्रत्येक स्थिति में वह निष्पत्ति भाव माँग सकते हैं, सत्य नहीं । उसका एक कारण है । हम नहीं फट

सकते कि वास्तविक सत्य का अस्तित्व और उसकी अन्तिम कहाँ है। जिसे हम आज सत्य का पूर्ण प्रमाण मानते हैं सम्भव है, कल वही बालकों की क्रीड़ा का सामान मान लिया जाय।”

हमारा नम्र निवेदन है कि सत्य के सिंहासन पर वे जिस 'निष्ठा भाव' को समारूढ़ बनाना चाहते हैं वह आवेगा कहाँ से? कला जो नश्वर है, रुग्ण है, मलिन है, उससे भी इस 'निष्ठा भाव' का विकास होगा? किन्तु नश्वर से नश्वर, रुग्ण से रुग्ण और मलिन से मलिन वस्तुओं में भी सत्य का निवास रहता है। उनमें भी वह तत्व उपस्थित रहता है जो अचल और अनश्वर है। फिर कला द्वारा सत्य का तिरस्कार किस प्रकार संभव है?

उक्त प्रसंग में ही, आगे चलकर, बर्मा महोदय कहते हैं:—

“कला को मैं बड़ा विशद चित्र मानता हूँ, जिसमें कलाकार के हृदय की परिस्थिति स्पष्ट रूप से अंकित रहती है। जब कलाकार प्रेमी का रूप रखता है तो उसके सामने समुद्र उसकी मुस्कान के साथ मुस्कुराता है। वायु उसकी प्रेमिका का नाम उसके कानों से कह जाती है; तारे उसे सौहार्द की आँखों से देखते हैं। बड़ा कलाकार जब वियोगी बनकर दुखी होता है तो वही समुद्र उसे उदास और निर्दय मालूम होता है; वही वायु उसके उच्छ्वासों को हँसी उड़ाती है, और वही तारे उसकी आँखों में समवेदना-रहित शून्य नेत्रों से देखते हैं। दोनों ही परिस्थितियाँ कला-रूप को पूर्ण परिचायिका हैं; दोनों ही में कला का अस्तित्व है; पर उनमें

सत्यता में कितना अन्तर है—कितना भेद है ! यही कारण है कि कला में सत्य का उतना महत्व नहीं है, जितना परिस्थिति का ।

“परिस्थितियों का हिलोर में कवि को कविता इस प्रकार चलती है, जैसे कोई मन्त्र-मुग्ध । मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि कविता से ऐसी शक्ति उत्पन्न होती है जो सुनने वालों को मुग्ध करती है; पर मतलब यह है कि कविता स्वयं मन्त्र-मुग्ध की भाँति अग्रसर होती है । उसका प्रत्येक शब्द मतवाला होता है । उन शब्दों के चारों ओर ऐसे वातावरण की सृष्टि होता है कि उसमें मुग्धता के सिवाय और कुछ भी नहीं होता । शब्दों की ध्वनि में मुग्धता होती है और उसके पारस्परिक सम्बन्ध में भी । ऐसी स्थिति में उनके भीतर बैठे हुए भाव भी मतवाले होते हैं । कल्पना में भी मदकता रहती है और वह मदिराही की भाँति मुग्ध-गति से चलती है ।”

वर्माजी ने सत्य का अत्यन्त संकुचित रूप अपने सामने रखा है । वास्तव में हृदय की जिस परिस्थिति की उन्होंने समीक्षा की है वह सत्य की आंशिक अथवा एकदेशीय अभिव्यक्ति के सिवा और कुछ नहीं । यदि उन्होंने ऐसा न किया होता तो शायद “सत्यम् शिवम् सुन्दरम्” का समर्थन करनेवाले आलोचकों की कला-परिभाषा में उन्हें संकीर्णता न दृष्टिगोचर होती । वास्तव में ये तीन शब्द कला की कसौटी निर्धारित करने के लिए सुन्दर सूत्र का काम देते हैं । केवल ‘सत्यम्’ में निम्न श्रेणियों के अनेक सामान्य तथ्यों का भी समावेश हो जाता है, इसलिए उसे ‘शिवम्’

कल्याणकर, प्रगतिकारक भी होना चाहिए। किन्तु 'शिवम् सत्त्वं' तो सामग्री मात्र हुआ। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि उससे कला के लिए उचित सामग्री उपस्थित हो जाती है। उसे 'सुन्दरम्' बनाकर हमारे सामने लाना कला का काम है। हमारी समझ में तो केवल 'हृदय की परिस्थिति' पर निर्भर रहने में कलाकार के पतन की भी आशंका है। ऐसा भी हो सकता है कि वह अपने अमूल्य आँसू, एरंड अथवा विष-शृङ्गों के सिक्के में लगाकर अपनी प्राण-शक्ति का अपव्यय कर दे। ऐसी अवस्था में किस परिभाषा में संशोधन की आवश्यकता है, इस पर पाठक स्वयं विचार करें।

प्रथम भाग में श्रीमती प्रतापकुँवरि और श्रीमती राव रघुवंशकुमारी की कविता की चर्चा करते समय हम उनके पवित्र परमात्मा-विषयक मत का उल्लेख कर आये हैं। इन देवियों से लेखनी में सच्ची कलाकार की स्याही का अभाव था; नहीं तो इनके विचार सुन्दर रूप में रचित होकर उच्चकोटि की रचनाओं के आधार होते। और हिन्दी-काव्य में व्यापक रूप से जिस विचार-धारा का आधिपत्य महात्मा तुलसीदास के बाद से होने लगा था और जिसका बल उनके परवर्ती कवियों ने अपनी रचनाओं द्वारा और अधिक बढ़ा दिया था, उसके क्षीणशक्ति होने के योग्य परिस्थिति बहुत पहले आ गयी होती। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के देश-भक्ति-संदेश की जो लहर हिन्दी-साहित्य में फैली उसने गूंगाररस का स्थूल रूप क्रमशः लुप्त करने में सफलता पायी और रसों के सम्राट् ने परकीय

यिका को जो प्रभुत्व प्रदान कर रक्खा था, उसने देश-प्रेम के जुभाऊ तों के साथ अपना अधिकार कम से कम मानस क्षेत्र में तो प्रकट कर दिया। “प्रियप्रवास” के पहले के अनेक काव्यों की प्रवृत्ति से यह प्रकट होता था कि भारत-गीतों के समुद्र में परकीया यिका समेत शृंगार-रस डूब जायगा। किन्तु “प्रियप्रवास” प्रकट होने पर यह स्पष्ट हो गया कि “रतिनाथ” का सर्वथा नाश ही हुआ है; वे “अनंग” और “अतनु” रूप में विराजमान हैं; हनानहीं होगा कि “प्रियप्रवास” की राधा उश्कोटि की परकीया हैं।

“प्रियप्रवास” में हरिऔधजी ने राधा की मनोहारिणी सृष्टि-द्वारा आधुनिक हिन्दी-कविता का जो शृंगार किया उसमें श्रीमती सुभद्राकुमारी की नायिका-सृष्टि ने उचित सहयोग दिया। हरिऔध ने “प्रियप्रवास” में जिस देशभक्ति-भावना का चित्रण किया, वह अत्यन्त व्यापक था; श्रीमती सुभद्राकुमारी ने देश की तत्मान समस्याओं पर अपने उद्गार प्रकट किये। नायिका-सृष्टि क्षेत्र में हरिऔधजी ने बहुत संकोच और भिन्नक से काम लिया था; श्रीमती सुभद्रा ने इस क्षेत्र में इस संकोच और भिन्नक ने सुरक्षित रखते हुए उसका चित्र अंकित करने में उतनी ही पटता से काम लिया जितनी कलात्मकता की रक्षा के लिए आवश्यक और कहीं-कहीं अनिवार्य थी।

देवियों ने हिन्दी-साहित्य की सेवा में जो भाग लिया है उसमें श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान का महत्वपूर्ण स्थान रहेगा। सर्वती कवियों ने मोराबाई को छोड़कर अन्य किसी स्त्री ने इतनी

मादक, सरल और प्रभावशालिनी कविता नहीं की। पिछले जिन देवियों की कविताओं की चर्चा की गयी है उनका एक सरसरी दृष्टि डालने हो से पाठकों को यह हृदयंगम है कि हमारे इस कथन में अतिशयोक्ति नहीं है। वर्तमान समय महिला-लेखिकाओं में उन्हें सब से अधिक प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा प्राप्त है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने आपको पद्य में 'मुकुल' के लिए तथा गद्य में 'विखरे मोती' के लिए पाँच-पाँच सौ के पुरस्कार पद्य और गद्य दोनों क्षेत्रों में आपकी यशस्विनी प्रतिभाशक्ति को स्वीकृति प्रदान की है। हाल ही में आपने प्रयाग में किये महिला-कवि-सम्मेलन को सभानेत्री का पद सुशोभित किया।

कुछ समय हुआ, हिन्दी के एक यशस्वी विद्वान् ने, जिसका सर्वथा समुचित कीर्त्तिगान से सम्पूर्ण हिन्दी-संसार गूँज उठा किसी मासिक-पत्र में सत्कविता के लक्षणों के सम्बन्ध में प्रकार लिखा था :—

“कविता में यदि प्रसाद गुण नहीं तो कवि की उद्देशनी अधिकांश में व्यर्थ जातो है। कवियों को इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिए। जो कुछ कहना हो, उसे इस तरह कहना चाहिए वह पढ़ने या सुननेवाले की समझ में तुरन्त ही आ जाय। इसे आप कविता का पहला गुण समझिए। दूसरा गुण कविता में होना चाहिए कि कवि के कहने के ढंग में कुछ निरालापन आकर्षण हो—वह अपने मन के भाव को इस तरह प्रकट जिससे पढ़ने या सुननेवाले के हृदय में कोई न कोई विकार जा

तेजित या विकसित हो उठे। विकारों का उद्दीपन जितना ही अधिक होगा, कवि की कविता उतनी ही अधिक अच्छी समझी जायगी”।

इस कसौटी पर यदि हम कसें तो श्रीमती सुभद्रा की कविताएँ खरी उतरती हैं। उनमें प्रसादगुण की यथेष्ट मात्रा है, भावुकता की प्रचुर मात्रा उनमें पायी जाती है; प्रभाव डालने की शक्ति भी उनमें अपूर्व है। इसका स्वाभाविक फल यह है कि किसी गूढ़ता के आतंक अथवा कौतूहल-मात्र के वशीभूत होकर उनकी रचनाओं का आदर नहीं हो रहा है, बल्कि इस कारण कि —

सरल कवित कीरति विमल, सोइ आदरहिँ सुजान ।

सहज दीर विसराइ रिपु जाकर करहिँ यत्नान ॥

श्रीमती सुभद्रा का जन्म संवत् १९६१ में नागपंचमी के दिन प्रयाग में हुआ। संवत् १९७६ में आपका विवाह ठाकुर लक्ष्मण-सिंह चौहान बी० ए० एल्-एल् बी० के साथ हुआ। चौहान महोदय देशभक्त पुरुष हैं, और ‘कर्मवीर’ में पंडित माखनलाल चतुर्वेदी के साथ काम कर चुके हैं। इस प्रसंग से सुभद्राजी को चतुर्वेदीजी जैसे सहृदय कवि के पथ-प्रदर्शन से लाभ उठाने का अवसर मिला। स्वभावतः उनकी कविता का एक प्रधान अंश देश की वेदना को व्यक्त करने की ओर अभिसर हुआ। सरल और प्रायः निर्दोष तथा प्रभावशालिनी भाषा में उन्होंने भारत-माता की करुण कहानी कितनी हृदय-द्रावक शैली में कही है, इसे पाठक निम्नलिखित पंक्तियों में देखें :—

(१)

स्वदेश के प्रति

आ, स्वतंत्र प्यारे स्वदेश, आ, स्वागत करता हूँ तेरा ।
 तुझे देखकर आज हो रहा दुना प्रमुदित मन मेरा ॥
 आ, उस बालक के समान जो है गुरुता का अधिकारी ।
 आ, उस युवक-वीर-सा जिसको विपदाएँ ही हैं प्यारी ॥
 आ, उस सेवक के समान तू विनयशील अनुगामी-सा ।
 अथवा आ तू युद्धक्षेत्र में कीर्ति-पूजा का स्वामी-सा ॥
 आशा की सुखी लतिकाएँ तुझको पा, फिर लहराएँ ।
 तूने आयाचारों का कृतियाँ हैं निर्भय दरसायी ॥

(२)

मेरी कविता

मुझे कहा कविता लिखने को, लिखने में बड़ी तत्काल ।
 पहिले लिखा—“जालियाँवाला”, कहा कि “बस, होगये निहाल ॥”
 मुझे और कुछ नहीं सूझता, ले-देकर वह खूनी बाग ।
 रोने से अब क्या होता है, धूल न सकेगा उसका दाग ॥
 भूल उसे, चल हँसो, मस्त हो—मैंने कहा—“धरो कुछ धीर ।
 तुमको हँसते देख कहीं, फिर फायर करे न डायर वीर ॥”
 कहा—“न मैं कुछ लिखने दूँगा, मुझे चाहिये प्रेम कपा ।”
 मैंने कहा—“नवेली है वह रम्य वदन है चन्द्र यथा ॥”
 कहा ! मग्न हो उछल पड़े वे, मैंने कहा—“सुनो चुपचाप ।”

बड़ी-बड़ी-सी भोली आँखें केश-पाश ज्यों काले साँप ॥
 भोली-भाली आँखें देखो, उसे नहीं तुम रलवाना ।
 उसके मुँह से प्रेमभरी कुछ मीठी बतियाँ कहलाना ॥
 हाँ, वह रोती नहीं कभी भी, और नहीं कुछ कहती है ।
 शून्य दृष्टि से देखा करती, खिन्नमन्त्रा-सी रहती है ॥
 करके याद पुराने सुख को, कभी चौक-सी पड़ती है !
 भय से कभी काँप जाती है, कभी क्रोध में भरती है ॥
 कभी किसी की ओर देखती नहीं दिखाई देती है ।
 हँसती नहीं किन्तु चुपके से, कभी-कभी रो लेती है ॥
 ताजे हलदी के रँग से, कुछ पीखी उसकी सारी है ।
 लाल-लाल से धब्ये हैं कुछ, अथवा लाल किनारी है ॥
 उसका छोर लाल, सम्भव है, हो वह खूनी रँग से लाल ।
 है सिंदूर-बिन्दु से सज्जित, अब भी कुछ-कुछ उसका भाल ॥
 अबला है, उसके पैरों में बनी महावर की लाली ।
 हाथों में मँहदो की लाली, वह दुखिया भोली-भाली ॥
 उसी याग की ओर शाम को, जाती हुई दिखाती है ।
 मानःकाल सूर्योदय से, पहले ही फिर आती है ॥
 लोग उसे पागल कहते हैं, देखो तुम न भूल जाना ।
 तुम भी उसे न पागल कहना, मुझे क्लेश मत पहुँचाना ॥
 उसे लौटती समय देखना, रम्य वदन पीला-पीला ।
 साँदी का वह लाल छोर भी, रहता है बिल्कुल गीला ॥
 डायन भी कहते हैं उसके कोई कोई हत्यारे ।

उसे देखना, किन्तु न ऐसी गलती तुम करना प्यारे ।
 बाँई ओर हृदय में उसके कुछ-कुछ धड़कन दिसताती ।
 वह भी प्रतिदिन कम-कम से कुछ घीमी होती जाती ॥
 किसी रोज़, सम्भव है, उसकी धड़कन बिल्कुल मिट जावे ।
 उसकी भोली-भाजी चाँखें हाम ! सदा को मुँद जावे ॥
 उसकी ऐसी दशा देखना आँख चार बहा देना ।
 उसके दुःख में दुस्निया बनकर तुम भी दुःख मना लेना ॥

(३)

जलियाँवाला बाग में बसन्त

यहाँ कोकिला, नहीं काक हैं शोर मचाते ।
 काले-काले कीट, अमर का भ्रम ठपकाते ॥
 कलियाँ भी अधखिली, मिली हैं कंदक-कुल-से ।
 वे पौधे, वे पुष्प, शुष्क हैं अथवा कुल-से ॥
 परिपल-हीन पराग दाग-सा बना पड़ा है ।
 हा ! यह प्यारा बाग खून से सना पड़ा है ॥
 भायो, मिय ऋतुराज ! किन्तु धीरे से चरना ।
 यह है शोक-स्थान यहाँ मत शोर मचाना ॥
 वायु खले, पर मन्द चाल से उसे छलाना ।
 दुःख की आँहें संग उड़ाकर मत ले जाना ॥
 कोकिल गावे, किन्तु राग रोने का गावे ।
 अमर करें गुंजार, कष्ट की कथा सुनावे ॥

लाना सँगा में पुष्प, न हों वे अधिक सजीले ।
 हो सुगंध भी मन्द, ओस से कुछ-कुछ गीले ॥
 किन्तु न तुम उपहार-भाव थाकर दरसाना ।
 स्मृति में पूजा-हेतु यहाँ थोड़े बिखराना ॥
 कोमल बालक मरे यहाँ गोली खा-खाकर ।
 कलियाँ उनके लिये गिराना थोड़ी जाकर ॥
 आशाओं से भरे हृदय भी क्षिप्त हुए हैं ।
 अपने प्रिय परिवार देश से भिन्न हुए हैं ॥
 कुछ कलियाँ अधखिली यहाँ हर्षालप चढ़ाना ।
 करके उनकी याद ओस के अश्रु बहाना ॥
 तड़प-तड़पकर वृद्ध मरे हैं गोली खाकर ।
 शुष्क पुष्प कुछ वहाँ गिरा देना तुम जाकर ॥
 यह सब करना, किन्तु बहुत धीरे से धाना ।
 यह है शोक-स्थान यहाँ मत शोर मचाना ॥

(४)

साक्षी

भरे ! बाल दे, पी लेने दे ! दिल भरकर प्यारे साक्षी ।
 साथ न रह जाये कुछ इस छोटे से जीवन की वाक्सी ॥
 ऐसी गहरी पिला कि जिससे रक्त नया ही छा जावे ।
 अपना और पराया भूलूँ; तू ही एक नज़र थावे ॥
 बाल-ढालकर पिला कि जिससे मतवाला होवे संसार ।
 साक्षी ! इसी नशे में कर लेंगे भारत-माँ का उद्धार ॥

(१)

माँसी की रानी

(१)

सिंहासन हिल उठे, राजवंशों ने झुकते ठानी थी ।
 बूढ़े भारत में भी आई फिर से नई जवानी थी ॥
 गुमी हुई आजादी की आशय सब ने पहचानी थी ।
 दूर फिरङ्गी को करने की सब ने मन में ठानी थी ॥

धमक उठे सन् सत्तावन में वह तलवार पुरानी थी ।
 बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी-
 खूब लड़ी मर्दानी वह तो माँसीवाली रानी थी ।

(२)

कानपुर के माना की मुँह मोली बहिन 'जुबली' थी ।
 लक्ष्मीबाई नाम, पिता को वह सन्तान अकेली थी ॥
 माना के सँग पढ़ती थी वह माना के सँग खेलती थी ।
 बरछी, डाल, कृपाण, कटारी उसकी यही सहेली थी ॥

धीरे शिवाजी की गाथा उसको 'पाद जवानी' थी
 बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी-
 खूब लड़ी मर्दानी वह तो माँसीवाली रानी थी

(३)

लक्ष्मी थी या दुर्गा थी वह स्वयं घोरता की अवतार ।

देख मराटे पुलकित होते उसके तलवारों के वार ॥

नकली युद्ध, म्यूह की रचना और खेलना, खूब शिकार ।

सैन्य घेरना, दुगं तोड़ना, ये थे उसके प्रिय खिलवार ॥

महाराष्ट्रकुल-देवी उसकी भी आराध्य भवानी थी ।

हुन्दले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी—

‘खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी ॥

(४)

हुई घोरता की घैभव के साथ सगाई झाँसी में ।

व्याह हुआ रानी बन आई लक्ष्मीबाई झाँसी में ॥

राजमहल में बजी बधाई, खुशियाँ छाई झाँसी में ।

मुभद्र हुन्दलों की विरुदावलि-सी वह आई झाँसी में ॥

चित्रा ने अर्जुन को पाया, शिव को मिली भवानी थी ।

हुन्दले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी—

‘खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी ॥

(५)

उदित हुआ सौभाग्य, मुदित महलों में रजियाली छाई ।

किन्तु काल-गति चुपके-चुपके काली घटा घेर लाई ॥

तीर चलानेवाले फर में उसे चूड़ियाँ फब भाई ।

रानी विधवा हुई हाथ ! विधि को भी नहीं दिया आई ॥

निःसन्तान मरे राजाजी रानी शोक समानी थी ।

मुन्देले हरयोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी—
 खूब खड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी

❀

❀

❀

(६)

रानी गई सिंघार, चिता अब उसकी दिव्य सवारी थी ।
 मिता तेज से तेज, तेज की वह सखी अधिकारी थी ॥
 अभी उग्र कुल सेहस की थी मनुज नहीं अवतारी थी ।
 हमको जीवित करने आई, बन स्वतंत्रता नारी थी ॥

दिखा गई पथ, सिखा गई हमको जो सीख सिलानी थी ।
 मुन्देले हरयोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी—
 खूब खड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी ।

(७)

‘जो रानी, बाद रखेंगे ये कृतज्ञ भारतवासी ।
 यह तेरा बलिदान जगावेगा स्वतंत्रता अविनाशी ॥
 होये पुण इतिहास, खगे सच्चाई को चाहे फाँसी ।
 हो मदमाती विजय मिटा दे गोलों से चाहे झाँसी ॥

‘तेरा स्मारक तू ही होगी, तू खुद अमिट निशानी थी ।
 मुन्देले हरयोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी—
 खूब खड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी ॥

नोचे जो कविता दी जाती है उसमें श्रीमती सुभद्रा देवी ने

कृष्ण के नाम राखी भेजकर उनसे देश का संकट दूर करने के लिए कटिबद्ध होने की प्रार्थना की है :—

भैया कृष्ण ! भेजती हूँ मैं राखी अपनी, यह लो थाज ।

कई बार तिमको भेजा है सजा-सजाकर नूतन साज ॥

लो आओ, मुजदफ़ उठाओ, इस राखी में बँधजाओ ।

भरत-भूमि की रजभूमि को एकबार फिर दिखलाओ ॥

वीर चरित्र राजपूतों का पढ़ती हूँ मैं राजस्थान ।

पढ़ते-पढ़ते आँखों में छा जाता राखी का आख्यान ॥

मैंने पढ़ा, शत्रुओं को भी जब-जब राखी भिजवाई ।

रषा करने दौड़ पड़ा वह राखीबद्ध शत्रु-भाई ॥

किन्तु देखना है, यह मेरी राखी क्या दिखलाती है ।

क्या निस्तेज कलाई ही पर बँधकर यह रह जाती है ॥

देखो ! भैया, भेज रही हूँ तुमको-तुमको राखी आज ।

राखी राजस्थान बनाकर रख लेना राखी की लाज ॥

हाथ काँपता, हृदय धड़कता है मेरी भारी आवाज़ ।

ध्रुव भी चौंक-चौंक उठता है जलियाँ का वह गोलन्दाज़ ॥

यम की सूरत उन पतितों के पाप भूज जाऊँ कैसे ?

अंकित आज हृदय में है फिर मन को समझाऊँ कैसे ?

बहिनें कई सिसकती हैं ॥ ! उनकी सिसक न मिट पाई ।

लाज गँवाई, गाली पाई तिस पर गोली भी खाई ॥

बुरा है कहीं न मार्शलजा का फिर से पद जाये घेरा ॥

ऐसे समय द्रौपदी-जैसा कृष्ण ! सहारा है तेरा ॥

बोलो, सोच-समझकर बोलो, क्या राखी बँबवाओगे !
भीर पड़ेगी, क्या तुम रक्षा—करने दौड़े आओगे !
यदि हाँ, तो यह लो इस मेरी राखी को स्वीकार करो ।
धाकर भैया, यहिन "सुभद्रा" के कपटों का भार हटो ॥

निम्नलिखित पंक्तियों में, जो सम्भवतः गत असहयोग आन्दोलन-काल में पंडित माखनलाल चतुर्वेदी की गिरफ्तारी के अवसर पर लिखी गयी थीं, श्रीमती सुभद्रा देवी के देशानुराग का अन्तर्परिचय मिलता है :—

"गिरफ्तार होनेवाले हैं, आता है चारंट अभी ।"
धक-सा हुआ हृदय, मैं सहमी, हुए विकल साशङ्क सभी ॥
किन्तु सामने दीख पड़े मुस्करा रहे थे खड़े-खड़े ।
रुके नहीं, आँखों से आँसू सहसा टपके बड़े-बड़े ॥
"पगली, यों ही दूर करेगी माता का यह रौरव कष्ट ?"
"रुका वेग भावों का, दीखा अहा मुझे यह गौरव स्पष्ट ॥
तिलक, लाजपत, श्री गांधीजी, गिरफ्तार बहुवार हुए ।
जेल गये, जनता ने पूजा, सड़क में अवतार हुए ॥
जेल ! हमारे मनमोहन के प्यारे पावन जन्म-स्थान ।
तुमको सदा तीर्थ मानेगा कृष्ण-भक्त यह हिन्दुस्तान ॥
मैं प्रफुल्ल हो उठी कि आहा ! आज गिरफ्तारी होगी ।
फिर जी घड़का, क्या भैया की सचमुच तैयारी होगी ॥
आँसू छलके, याद आगयी, राजपूत की यह बाला ।
जिसने विदा किया भाई को देकर तिलक और माला ॥

सदियों सोयी हुई वीरता जागी, मैं भी वीर बनी ।
 जाग्रो भैया, विदा तुम्हें करती हूँ मैं गम्भीर बनी ॥
 याद भूल जाना मेरी उस आँसूवाली मुद्रा की ।
 कोजे यह स्वीकार बघाई छोटी बहिन 'सुभद्रा' की ॥

श्रीमती सुभद्रा को जैसी सफलता देश-विषयक कविताएँ
 लिखने में मिली है वैसी ही नारी-हृदय के मधुर भावों
 को अभिव्यक्ति प्रदान करने में भी मिली है, यह पहले ही कहा जा
 चुका है । उनकी प्रियतम की खोज में मार्मिकता और सरसता
 है । नीचे की पंक्तियाँ देखिए । वे कहती हैं:—

(१)

हे काले-काले बादल, उहरो, तुम बरस न जाना ।
 मेरी दुखिया आँखों से, देखो मत होव जगाना ॥
 तुम अभी-अभी आये हो, यह पल-पल बरस रही हैं ।
 तुम चपला के सँग झुश हो, यह व्याकुल तरस रही हैं ॥
 तुम गरज-गरज कर अपनी, मादकता क्यों भरते हो ?
 इस विधुर हृदय को मेरे, नाहक पीड़ित करते हो ॥
 मैं उन्हें खोजती फिरती, पागल-सी व्याकुल होती ।
 गिर जाते इन आँखों से, जाने कितने ही मोती ॥

(२)

कठिन प्रयत्नों से सामग्री मैं बटोरकर लाई थी ।
 बड़ी उमंगों से मन्दिर में, पूजा करने आई थी ॥

पास पहुँचकर जो देखा तो आश्चर्य ! द्वार खुला पाया ।
 जिसकी लगन लगी थी उसके दर्शन का अवसर पाया ॥
 हर्ष और उत्साह बढ़ा, कुछ लज्जा, कुछ संकोच हुआ ।
 उरमुक्तता, व्याकुलता कुछ कुछ, कुछ संभ्रम, कुछ सोच हुआ ॥
 मन में था विश्वास कि उनके अग्न तो दर्शन पाऊँगी ।
 प्रियतम के चरणों पर अपना मैं सर्वस्व चढ़ाऊँगी ॥
 फहड़ूँगी अन्तरतम की, मैं उनसे नहीं छिपाऊँगी ।
 मानिनि हूँ, पर मान तजूँगी, चरणों पर बलि जाऊँगी ॥
 पूरी हुई साधना मेरी, मुझको परमानन्द मिला ।
 किन्तु बड़ी तो हुआ अरे क्या ? मन्दिर का पट बन्द मिला ।
 निडुर पुजारी ! यह क्या ? मुझ पर तुम्हें तनक न दया आई ?
 किया द्वार को बन्द हाथ ! मैं प्रियतम को न देख पाई ?
 फरके कृपा, पुजारी ! मुझको ज़रा यहाँ तक जाने दे ।
 मुझको भी थोड़ी सी पूजा प्रियतम तक पहुँचाने दे ॥
 छूने दे उनके चरणों को, जीवन सफल बनाने दे ।
 खोज-खोज दे द्वार, पुजारी ! मन की व्यथा मिटाने दे ॥
 बहुत बड़ी आशा से आई हूँ, मत तू कर मुझे निराश ।
 एक बार, बस एक बार तू जाने दे प्रियतम के पास ॥

प्रियतम की इस खोज में, प्रणय की इस यात्रा में श्रीमती सुभद्रा देवी की प्रणयिनी का उपहास भी हुआ तथा अनेक बाधाएँ उसके सामने आयीं, किन्तु प्रेम के उन्माद ने उसे इस पथ से

वेरत नहीं किया । इस प्रसंग में कवि के शब्दों में उसका कथन प्रत्यन्त हृदय-स्पर्शी है :—

मेरे भोले सरल हृदय ने कभी न इस पर किया विचार—
विधि ने लिखी भाल पर मेरे मुख की घड़ियाँ दो ही चार !
छलती रही सदा ही आशा भृगतृष्णा-सी मतवाली,
मिली सुधा या सुरा न कुछ भी, रही सदा रीती प्यासी !
मेरी कलित कामनाओं की, ललित लालसाओं की धूल,
इन प्यासी आँखों के आगे उड़कर उपजाती है शूल ।
उन चरणों की भक्ति-भावना मेरे लिये हुई अपराध,
कभी न पूरी हुई अभागे जीवन की भोली-सी साथ ।
आशाओं-अभिलाषाओं का एक-एक कर हास हुआ,
मेरे प्रवल पवित्र प्रेम का इस प्रकार उपहास हुआ !
दुःख नहीं सरयस हरने का, हरते हैं, हर लेने दो,
निहुर निराशा के झोंकों को मनमानी कर लेने दो ।
हे विधि, इतनी दया दिखाना मेरी इच्छा के अनुकूल—
उनके ही शरणों पर बिखरा देना मेरा जीवन-फूल ।

प्रियतम मिले भी तो हृदय में अनुराग की आग लगाकर
झिप गये, सुखा व्यवहार करने लगे :—

मेरी जोर्य-शीर्ण कुटिया में चुपके चुपके आकर ।
निमोही ! झिप गये कहाँ तुम ! नाइक आग लगाकर ॥
ज्यों-ज्यों इसे बुझाती हूँ—बढ़ती जाती है आग ।
निहुर ! बुझा दे, मत चढ़ने दे, लगने दे मत दाग ॥

१५४

तक हुई प्रीति अब रुखा व्यवहार न हो ।
 तो लिया करो तुम चाहे मुझपर प्यार न हो ॥
 कर रही सदा मैं जिसकी अब भी कहलाती ।
 इन व्यवहारों को टूक-टूक फिर हो जाती !
 जिसकी हे ॐ ॐ

क्यों न देख

हारे कई उपासक कई ढंग से आते हैं ।

ॐ बहुमूल्य भेंट वे कई रत्न के लाते हैं ॥

। से साज-बाज से वे मन्दिर में आते हैं ।

देव ! तुम बहुमूल्य वस्तुएँ लाकर तुम्हें चढ़ाते हैं ॥

सेवा में शरीरिणी ऐसी जो कुछ साथ नहीं लाई ।

धूम-धाम साहसकर मन्दिर में पूजा करने को आई ॥

मुकाम नैवेद्य नहीं है, झुंकी का शृंगार नहीं ।

मैं ही हूँ जेब में पहनाने को फूलों का भी हार नहीं ॥

फिर भी श्रुति करूँ तुम्हारी ? हे स्वर में माधुर्य नहीं ।

धूप-दीप भाव प्रगट करने को, बाणी में चातुर्य नहीं ॥

हाथ ! न है, नहीं दक्षिणा खाली हाथ चली आई ।

मैं कैसे विधि नहीं जानती फिर भी नाथ ! चली आई ॥

मन का पुजापा प्रभुवर ! इसी पुजारिन को समझो ।

नहीं दण्ड और निष्ठावर इसी भिखारिन को समझो ॥

पूजा की प्रेम की लोभी हृदय दिखाने आई हूँ ।

पूजा और वस यही पास है, इसे चढ़ाने आई हूँ ॥

दान-दक्षि

में उन्मत्त

चरणों पर अर्पित है इसको चाहो तो स्वीकार करो ।

यह तो वस्तु तुम्हारी हो है, ठुकरा दो या प्यार करो ॥

श्रीमती सुभद्रादेवी ने अपनी उक्त पंक्तियों में निराश प्रणयिनी
जो चित्र अंकित किया है, निम्नलिखित पंक्तियों की व्यंजना
सके रंग को और भी गहरा बनाती है :—

यह मुरझाया हुआ फूल है, इसका हरय दुखाना मत ।

स्वयं बिखरनेवाली इसकी, पंखड़ियाँ बिखराना मत ॥

गुजरो अगर पास से इसके इसे चोट पहुँचाना मत ।

जीवन की अंतिम घड़ियों में, देखो, इसे रुझाना मत ॥

अगर हो सके तो ठंडी—बूँदे टपका देना प्यारे ।

जख न जाय संतप्त हृदय, शीतलता ला देना प्यारे ॥



हाल पर के मुरझाये फूल ! हृदय में मत कर वृथा गुमान ।

नहीं हैं सुमनकुञ्ज में अभी इसीसे है तेरा सम्मान ॥

मधुप जो करते अनुनय विनय ने तेरे चरणों के दास ।

नई फलियों को खिलती देख नहीं आवेंगे तेरे पास ॥

सहेगा यह कैसे अपमान ? उठेगी वृथा हृदय में शूल ।

भुजावा है, मत करना ग, हाल पर के मुरझाये फूल !!

श्रीमती सुभद्रादेवी की प्रणयिनी राधा को अपने लिए अनुकर-
णीया और आदर्शरूपा मानती है :—

थी मेरा आदर्श बालपन से तुम जानिनि राधे !
 तुम-सी बन जाने को मैंने व्रत नियमादिक साथे ॥
 अपने को माना करतो थी मैं वृषभानु-विशोरी ।
 भाव-गगन के कृष्ण-चन्द्र की थी मैं चतुर चकोरी ॥
 था छोटा सा गाँव हमारा छोटी-छोटी गलियाँ ।
 गोकुल उसे समझतो थी मैं गोपी सँग की झलियाँ ॥
 कुटियों में रहती थी, पर मैं उन्हें मानती कुंजे ।
 माधव का संदेश समझती सुन मधुकर की गुंजे ॥
 बचपन गया, नया रँग आया और मिला वह प्यारा ।
 मैं राधा बन गई, न था वह कृष्णचन्द्र से न्यारा ॥

परन्तु सुभद्रा की प्रणयिनी की कठिनाई यह है कि वे राधा
 तरह सहनशील नहीं है । वह अपने प्रेमपात्र को अपने हृदय
 प्रेमोपहार औरों को भी मुक्त-हस्त होकर बाँटते नहीं देख सके
 इस प्रसंग में उन्होंने जो भाव व्यक्त किये हैं वे सचमुच मधुर
 वे आगे कहती हैं :—

किन्तु कृष्ण यह कभी किसी पर ज़रा प्रेम दिखलाता ।
 नख सिख से मैं जल उठती हूँ खानपान नहीं भाता ॥
 खूनी भाव उठे उसके प्रति जो हो प्रिय का प्यारा ।
 उसके लिये हृदय यह मेरा बन जाता हत्यारा ॥
 मुझे बता दो जानिनि राधे ! प्रीति-रीति यह न्यारी ।
 क्योंकर थी उस मनमोहन पर अविचल भक्ति तुम्हारी ?

तुम्हें छोड़कर बन बैठे जो मथुरा-नगर-निवासी ।
 कर कितने ही ब्याह, हुए जो सुख सौभाग्य-विलासा ॥
 सुनती उनके गुण-गण को ही उनके ही गाती थी ।
 उन्हें यादकर सब कुछ भूली उन परावलि जाती थी ॥
 नयनों के मृदु फूल चढ़ाती मानस का मूरति पर
 रही छगी-सी जीवन भर उस क्रूर श्याम-सुरत पर ॥
 श्यामा कहलाकर, हो बैठी बिना दाम की चेरी
 मृदुज उमझों की ताने' थी—तू मेरा, मैं तेरी ॥
 जीवन का न्योछावर हा हा ! तुच्छ उन्होंने लेखा
 गये, सदा के लिए गये फिर कभी न मुड़कर देखा ॥
 अरुण प्रेम फिर भी कैसे है कह दो राधारानी !
 कह दो मुझे, बखी जाती हूँ, छोड़ो शीतल पानी ॥
 ले आदर्श तुम्हारा, रह-रह मन को समझाती हूँ ।
 किन्तु बदलते भाव न मेरे शान्ति नहीं पाती हूँ ॥

राधा के प्रति श्रीमती सुभद्रा की प्रणयिनी का बहुत अधिक
 प्रेमाभाव है । वह समझती है कि राधा ने क्षमाभाव-पूर्वक श्रीकृष्ण
 को अन्य गोपियों के अनुराग-पात्र में बदल देने दिया । किन्तु, यह बात
 ठीक नहीं । राधा का हृदय स्वाभाविकता से परे न था, परन्तु परि-
 स्थिति यदि विवशता का पाठ पढ़ने के लिए वाच्य करे तो बुद्धिमती
 प्रेमिका धैर्य के अतिरिक्त अन्य किस मार्ग का अवलम्बन कर सकती
 है ? पारचात्य सभ्यता की उपासिका, किन्तु प्रणय के प्रखर घाण
 ने सम्मोहित महिलाओं को भी ऐसी विवशतामयी परिस्थितियों में

‘सम्बन्ध-विच्छेद’ में नहीं, किन्तु प्रणय की त्यागमूलक मन का विश्राम ढूँढ़ना पड़ा है। सुभद्रादेवी की प्रणयिनी वास्तव में, अन्ततोगत्वा राधा का अनुसरण किया है। वह शब्दों में कहती है :—

तुम मुझे पछते हो—“जाऊँ” मैं क्या जवाब दूँ तुम्हीं कहो !
 “जा...” कहते रुकती है ज़बान किस मुँह से तुमसे कहूँ रो !
 सेवा करना था जहाँ मुझे कुछ भक्ति-भाव दर्साना था।
 उन कृपा-कटाक्षों का बदला बलि होकर जहाँ चुकाना था।
 मैं सदा रुठती ही आई प्रिय ! तुम्हें व मैंने पहिचाना।
 वह मान वाण-सा चुभता है अब देख तुम्हारा यह जाना ।।

उचित अपराध के बदले में रोप और, मान का भाव प्रदर्शित करनेवाली इस प्रेमिका ने, देखिए, कितना गहरा व्यङ्ग्यभाव प्रदर्शित किया है ! वह बेचारी उलटा प्रछत्ता रही है कि मैंने मान क्यों किया !! यही नहीं, सुभद्रा देवी की प्रेममयी नारी ने तो राधा के जीवन के साथ अपने जीवन को लय कर दिया है। राधा के परकीयत्व का ग्रहण करके वह पूर्ण-रूपेण आधुनिक युग की राधा ही बन गयी है। नीचे की पंक्तियाँ देखिए :—

लगे आने हृदय धन से—कहा मैंने कि मत आओ !
 कहीं हो प्रेम में पागल न पथ में ही मचल जाओ ॥
 कठिन है मार्ग, मुझको मज्जिलें वे पार है करनी हैं ।
 उमझों की सरहदें बढ़ पड़े—शायद किसल जाओ ॥

तुम्हें कुछ चोट आ जाये कहीं लाचार लौटूँ मैं ।

हठीले प्यार से व्रत-भङ्ग की घड़ियाँ निकट लाओ ।

श्रीमती सुभद्रादेवी की यह परकीया नायिका-सृष्टि अत्यन्त धुर और अनुपम है । प्रेमिका अपने व्रत पर आरुढ़ है; उसका नेर्वाह कर ले जाने की उसे बहुत चिन्ता है, किन्तु हठीले प्रेमिक अनुरोधों के कारण भी असमंजस में पड़ रही है । यदि प्रेमिक की 'उमंगों की तरंगें' बढ़ती ही गयीं तो उसे 'कुछ चोट' आ जाने और प्रेमिका के लाचार होकर लौट आने की आशंका है, और इस कारण शायद प्रेमिका के व्रतभग की घड़ियाँ निकट आ जायें । कैसी घन्टा-जनक परिस्थिति है ! प्रेमिका प्रेमिक के अनुरोध के सामने नत होकर भी नत होना नहीं चाहती ! इस विषमतामयी स्थिति के अंकन में उस कला का विकास हुआ है जो सुभद्रा देवी का स्थान मीराबाई ने छोड़कर अन्य समस्त महिला कवियों से ऊँचा उठाता है ।

सुभद्राजी ने अपने खोये हुए बचपन को सन्तति के रूप में प्राप्त करके उन लोगों को संतोष-लाभ का एक अनूठा मार्ग प्रदर्शित किया है जो बचपन की याद में आँहें भरा करते हैं । अपनी नन्हीं-ती बालिका को ललित करके उन्होंने कुछ बहुत सुन्दर पंक्तियाँ लेखी हैं । पाठक उन्हें नीचे देखें :—

(१)

मेरा नया बचपन

बार बार आती है मुझको मधुर याद बचपन तेरी ।

गया, ले गया तू जीवन की—सबसे 'मस्त' सुखी मेरी ॥

चिन्ता-रहित खेलना-खाना, वह फिरना निभंय स्वप्न-
 कैसे भूला जा सकता है, बचपन का अतुलित आनंद !
 ऊँच-नीच का ज्ञान नहीं था, छुआछूत किमने जानी !
 बनी हुई थी, अहा ! ओपदी थीर चीपड़ों में रानी !
 किये दूध के कुल्ले मैंने, चूस अँगूठा सुधा पिपा।
 किलकारी बल्लोल मचाकर सुना घर आयाद किया।
 रोना और मचलजाना भी, क्या आनन्द दिखाते थे !
 बड़े बड़े मोती-से आँसू, जयमाला पहनाते थे।
 मैं रोई, मैं काम छोड़कर, आई, मुझको उठा लिया।
 भाव-पोंछकर चूम-चूम, गीले गालों को सुखा दिया।
 दादा ने चंदा दिखलाया, नेत्र-नीर-द्रुत चमक उठे।
 धुली हुई मुसफान देखकर, सबके चेहरे चमक उठे।
 वह सुख का साम्राज्य छोड़कर मैं मतवाली बड़ी हुई।
 लुटी हुई, कुछ ठगी हुई-सी, दीव द्वार पर खड़ी हुई।
 क्षण भरी आँखें थीं मेरी, मन में उमँग रँगिली थी।
 तान रसीली थी कानों में, चंचल छैल छपोजी थी।
 दिल में एक सुभन-सी थी यह दुनिया सब अलबेली थी।
 मन में एक पहेली थी, मैं सय के बीच अकेली थी।
 मिठा, खोजती थी जिसको, हे बचपन ! ढगा दिया तूने।
 भरे ! जवानी के फंदे में मुझको फँसा दिया तूने।
 सय गलियाँ उसकी भी देखीं, उसकी खुशियाँ प्यारी हैं।
 प्यारी, प्रीतम की रँगरलियों, की स्मृतियाँ भी प्यारी हैं।

माना मैंने युवा-काल का जीवन खूब निराला है ।
 आकांक्षा, पुरुषार्थ, ज्ञान का उदय मोहनेवाला है ॥
 किन्तु यहाँ भ्रमर है भारी, युद्ध-क्षेत्र संसार बना ।
 चिन्ता के चक्र में पड़कर जीवन भी है भार बना ॥
 आजा, बचपन ! एक बार फिर, दे दे अपनी निर्मल शांति ।
 प्याकुल प्यासा मिटानेवाला, वह अपनी प्राकृत विश्रान्ति ॥
 वह भोली-सी मधुर सरलता, वह प्यारा जीवन निष्पाप ।
 क्या फिर आकर मिटा सकेगा, तू मेरे मन का संताप ?
 मैं बचपन को बुला रही थी, बोल उठी बिटिया मेरी ।
 नंदन बन-सी, फूल उठी वह, छोटी-सी कुटिया मेरी ॥
 "माँ ओ" कहकर बुला रही थी, मिठी खाकर आई थी ।
 कुछ मुँह में कुछ लिये हाथ में, मुझे खिलाने आई थी ॥
 पुलक रहे थे अंग, हगों में, कौतूहल था झलक रहा ।
 मुल पर थी आह्लाद-जातिमा, विजय-गर्व था झलक रहा ॥
 मैंने पूछा—“वह क्या लाई ?” बोल उठी वह—“माँ, काओ ।”
 हुआ प्रफुल्लित हृदय सुशी से, मैंने कहा—“तुम्हीं खाओ ॥”
 पाया मैंने बचपन फिर से, बचपन बेटी बन आया ।
 उसकी मंजुल मूर्ति देखकर, मुझमें नवजीवन आया ॥
 मैं भी उसके साथ खेलती, खाती हूँ तुतलाती हूँ ।
 मित्रकर उसके साथ स्वयं मैं भी, बच्ची बन जाती हूँ ॥
 जिसे खोजती थी, वर्यों से अब जाकर उसको पाया ।
 भाग गया था मुझे छोड़कर, वह बचपन, फिर से आया ॥

(२)

बालिका का परिचय

यह मेरी गोदी की शोभा, सुख-सुहाग की है बाजी।
 शाही शान मिखारिनी की है, मनोकामना : मठवाजी ॥
 दोष-शिखा है, अन्धकार की, घनी घटा की उत्रियाली।
 ऊषा है यह कमल-भृङ्ग की, है पतम्भ की हरिषाही।
 सुधाधार यह नीरस दिल की, मस्ती मगन तपस्वी की।
 जीवित ज्योति नष्ट नयनों की, सच्ची लगन मनस्वी की।
 भीते हुए बालपन की यह, क्रीड़ा-पूर्ण धाटिका है ॥
 वही मञ्जरी, वही किलकना, हँसती : हुई नाटिका है ॥
 मेरा मन्दिर, मेरी मसजिद, कावा-काशी यह मेरी।
 पूजा-पाठ ध्यान, जप, तप है, घट-घटवासी यह मेरी ॥
 कृष्ण-चन्द की क्रीड़ाओं को, अपने आँगन में देखो।
 कौशल्या के मातृमोद को, अपने ही मन में डेलो।
 प्रभु ईसा की समा-शीलता, नबीमुहम्मद का विश्वास।
 जीव दया जिनवर गौतम की, आओ देखो इसके पास ॥
 परिचय पूछ रहे हो मुझसे, कैसे परिचय इसका।
 वही जान सकती है इसको, माता का दिल है जिसका ॥

(३)

इसका रोना . . .

तुम कहते हो—मुझको इसका रोना नहीं सुझता है।
 मैं कहती हूँ, इस रोने से अनुपम सुख छा जाता है ॥

सच कहती हूँ इस रोने की छवि को ज़रा निहारोगे ।
 बड़ी-बड़ी आँसू की बूँदों—पर मुक्तावलि वारोगे ॥
 ये नन्हें-से थोँठ और यह जम्बी-सी सिसकी देखो ।
 यह छोटा-सा गला और यह गहरी-सी हिचकी देखो ॥
 कैसी करुणा जनक दृष्टि है ! हृदय उमड़कर आया है ।
 छिपे हुए आत्मीय भाव को यह उभाड़कर लाया है ॥
 हँसी, बाहिरी चहल-पदल को ही बहुधा दरसाती है ।
 पर रोने में अन्तरतम तक की हलचल मच जाती है ॥
 जिससे सोयी हुई आत्मा जगती है, अकुलाती है ।
 छूटे हुए किसी साथी को अपने पास बुलाती है ॥
 मैं सुनती हूँ कोई मेरा मुँहको अहा ! बुलाता है ।
 जिसकी करुणापूर्ण चीख से मेरा केवल नाता है ॥
 मेरे ऊपर वह निर्भय है खाने, पीने, सोने में ।
 जीवन की प्रत्येक क्रिया में हँसने में आँसू रोने में ॥
 मैं हूँ उसकी प्रकृत सज्जिनी उसकी जन्म-प्रदाता हूँ ॥
 वह मेरी प्यारी मित्रिणी है मैं ही उसकी माता हूँ ।
 तुमको सुनकर चिढ़ आती है मुँहको होता है अभिमान ॥
 जैसे भक्तों की पुकार सुन गवित्त होते हैं भगवान ।
 सुभद्राजी को कुछ समय तक, शायद प्रतिकूल परिस्थितियों
 के कारण, कविता के क्षेत्र से पृथक् हो जाना पड़ा था । नीचे की
 पंक्तियों में उन्होंने अपनी इस स्थिति को बड़ी मार्मिकता से
 चित्रित किया है :—

चिन्ता की चादर छोड़े, मेरी कविता सोती है।
 वह मृदुल भावना दिल की, अब मूक बनी रोती है॥
 कहते हो—लिखा करूँ कुछ, क्या लिखूँ तुम्हीं बतलाओ।
 मैं भूल गई हूँ यह पथ, हे मित्र द्वार दिखलाओ।
 क्या अपनी ही लिख दूँ मैं, नीरस-सी कथण कहानी।
 पर किस मतलब का होगा, आँखों का खारा पानी।
 धस, इसीजिये मैं चुप हूँ, तुम इतनी दया दिखाना।
 मत मुझे छेदकर दिल के फोड़े को अधिक दुखाना॥
 यही भाव उनकी निम्नलिखित कविता में भी व्यक्त हुआ है।
 भाँसी के हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अधिवेशन में लेखिका-द्वारा
 पढ़ी गयी थी:—

सहसा हुई पुकार ! मातृ-मन्दिर में मुझे बुलाया क्यों ?
 जान बूझकर ओयी थी ! फिर बननी ! उसे जगाया क्यों ?
 भूल रही थी स्वप्न देखना ग्रामन्त्रय पहुँचाया क्यों ?
 करने जाती द्वार बन्द थी, फिर पथ हाथ सुझाया क्यों ?
 मान मातृ-आदेश दौड़कर आने को साधार हुई !
 क्या ? मेरी टूटी फूटी सी सेवा है स्वीकार हुई ॥
 स्वयम् उपेक्षित पर गुरुजन का पथ-भूला दुलार कैसा ?
 तिरस्कार के योग्य यावनी पर यह अतुल प्यार कैसा ?
 इस मुन्देजों की भाँसी में शब्दों बिना तार कैसा ?
 देश-प्रेम की मतवाली को, बननी पुरस्कार ! कैसा ?
 पचायी हूँ, मुख पाने दे, अस्थामृत की धारों से।

बनने, दे इतिहास देश का पानी चढ़े दुधारों से ॥
 जरा सुलग जाने दे चारों दिशि कुरवानी की आगी ।
 धरी बेतवा दिखा समर में तेरे पानी को आगी ॥
 हूँ पथर, पर लिखा जहाँ बलिदान लचमोवाई का ।
 कौन मूल्य है यहाँ सुभद्रा की कविता-चतुराई का ?
 न्यौता ? न्यौते का जवाब, मैं न्यौता देने आयी हूँ ।
 भाई ! दो, मैं तिलक-लालिमा अपने साथ न लायी हूँ ॥
 आज तुम्हारी लाली से माँ के भस्त्र पर हो लाली ।
 काखी जंजीरें टूटें फाली यमुना में हो लाली ॥
 जो स्वतन्त्र होने को हैं पावन बुलार उन हाथों का—
 स्वीकृत है माँ की बेदी पर पुरस्कार उन हाथों का ॥
 लड़ने की धुन में भाई ! समता का मधुर स्वाद कैसा ?
 अपनों ही में अपनों का, डरती हूँ—धन्यवाद कैसा ?

हर्ष की घात है, अब यह मनोभाव आत्म-स्मृति में परिणत
 हो गया है ।

अपने कविता-कानन की, मैं हूँ कोयल मतवाली ।
 मुँहसे मुखरित हो गाता, उपवन की डाली-डाली ॥
 मैं जिधर निकल जाती हूँ, मधुमास वहीं घाता है ।
 भीरस धन के जीवन में, रस घोल-घोल जाता है ॥
 सूखे सुमनों के दल पर, मैं मधुसञ्चालन करनी ।

मैं प्राणहीन का अपने, प्राणों से पालन करती ॥
 मेरे जीवन में जाने, कितना मतघालापन है ।
 कितना है प्राण छलकता, कितना मधु-मिश्रित मन है ॥
 दोनों हाथों से भर-भर इस मधु के सदा लुटाती ।
 फिर भी न कमो होता है, प्याली भरती ही जाती !!

सुभद्राजी ने इन पंक्तियों में अपने जिस रूप का अंकन किया
 है, ईश्वर करे वह हिन्दी-संसार के लिए मधुर फलप्रद सिद्ध हो ।



तृतीय भाग



श्रीमती महादेवी वर्मा

महादेवी वर्मा * * *

श्रीमती सुभद्राकुमारी की कविता जिन दिनों 'चिन्ता की चादर ओढ़े' सो रही थी, उन्हीं दिनों प्रयाग की एक छात्रा ने काव्याराधना की ओर प्रवृत्ति दिखायी थी। आज-कल जिन श्रीमती महादेवी वर्मा के यश से हिन्दी-संसार गूँज रहा है, उनकी साहित्य-सेवा का बाल्यकाल उसी छात्रा की रचनाओं की तुलना भाषा को लेकर प्रकट हुआ था।

कवीन्द्र रवीन्द्र को सन् १९१४ में उनकी प्रसिद्ध पुस्तक "गोतांजलि" के लिए सम्मानित नोबेल-पुरस्कार प्राप्त हुआ। नीरस, प्रकृत उद्गार-शून्य तथा कृत्रिमता-पीडित भारत-गीतों की माढ़ी में उलझी हुई हिन्दी-कविता ने, कवीन्द्र की यशस्वी लेखनी से लालित-पालित बंग-कविता के भाग्य के प्रति, स्वभावतः ही ईर्ष्या का अनुभव किया। इस ईर्ष्या ने अनुकरण के भाव को प्रोत्साहित किया और उक्त पुरस्कार की घोषणा के अगले दशक

में ही हिन्दी-काव्य की काया ही पलटने लगी। कवीन्द्र के काल में रहस्यवाद बड़े मनोहर रूप में विकसित हुआ है। हिन्दी के कवियों ने भी रहस्यवाद के उद्यान में विचरण करने का निश्चय किया। बाबू जयशंकरप्रसाद, पंडित सुमित्रानन्दन पंत और पंडित सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' इस पथ के पथिकों में विशेष रूप से उल्लेख-योग्य हैं। अभी यह प्रश्न विवाद-ग्रस्त है कि इन सज्जनों की कविता में रहस्यवाद है या नहीं; किन्तु यह तो निश्चित है कि गीतिकाव्य के साहित्य को श्रीसम्पन्न करने का प्रयत्न अवश्य मिलेगा।

महिलाओं में श्रीमती महादेवी वर्मा ने सब से प्रथम हिन्दी काव्य की इस नवीन प्रवृत्ति को हृदयंगम किया और उक्त महारानी भावों द्वारा प्रचारित प्रणाली को अपनाया। यह निस्संकोच भाव से कहा जा सकता है कि देवीजी की कुछ कविताओं में उच्चकोटी की सौन्दर्य-सृष्टि हुई है। वर्तमान समय की अनेक महिलाएँ काव्य-रचना में, इन्हीं का पथानुसरण कर रही हैं।

श्रीमती महादेवी वर्मा का जन्म संवत् १९६४ में बाबू गोविन्द प्रसाद एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, फर्हखाबाद निवासी, के घर हुआ। ग्यारह वर्ष ही की अवस्था में आपका विवाह हो गया और कुछ समय तक आपके साहित्यिक विकास में रुकावट पड़ी। किन्तु अनुकूल परिस्थितियों के आने पर आपने अपने अध्ययन का क्रम फिर चलाया और बी० ए० कक्षा में पहुँचते पहुँचते कविता की ओर भी कुछ प्रगति की। हाल ही में आप

काव्य-संग्रह, "नीहार" तथा "रश्मि" प्रकाशित हुए हैं। इन कृषियों का हिन्दी-पाठकों ने खूब आदर किया है।

नीहार की भूमिका में श्रीमती महादेवी वर्मा की कविता के सम्बन्ध में महाकवि 'हरिऔध' ने इस प्रकार लिखा है:—

"थोड़े समय में भी कतिपय छायावादी कवियों ने हिन्दी-साहित्य में कीर्ति अर्जन की है और उनमें पर्याप्त भावुकता का विकास देखा गया है। उन्होंने अपने गहन पथ को सरल बनाया और कोमल कान्त पदावली पर अधिकार करके बड़ी भावमयी कविताएँ की हैं। उन्हीं में से एक श्रीमती महादेवी वर्मा कवयित्री हैं।"

अपने कथन के अंतिम अंश में 'हरिऔध' महोदय ने हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में महादेवी जी का सादर अभिनन्दन किया है और मार्शना की है कि "उनकी हस्तपुत्री की अपूर्व भङ्गार में भारतमाता के कण्ठ की वर्तमान ध्वनि भी श्रुत होनी चाहिए। "हरिऔध" जी के मतानुसार "माता की व्यथाओं के अनुभव करने की मार्मिकता मातृत्व-पद की अधिकारिणी को ही यथातथ्य हो सकती है।"

हमारी वर्तमान राष्ट्रीय और सामाजिक स्थिति ठीक नहीं है। पर-पर पर हमारा अपमान हो रहा है, बात-चात में हम नीचा देख रहे हैं। इस सामाजिक दुर्दशा का करुण चित्र भारतेन्दु ने अमर पंक्तियों में इस प्रकार अंकित किया है—

गव भाँति देव प्रतिहृष्ट होइ करि वाग्य ।
 अथ गजदु पीतपर भाग्य को गव दाम्य ।
 अथ गुण-गुण को उरप नहीं इत डूँटै ।
 गो दिन दिय इत अथ मग्नेई नहि देरै ।
 रवाभीवरनो बस पीतत्र सब मगैरै ।
 मंगलमय भारत-भुवि मगार है उरै ।
 दुग ही दुग नहिई जागिहुँ सोर प्रकाश ।
 अथ तजहु पीतपर भारत की सब दाम्य ।

इन सरल अलंकार-रूप्य पंक्तियों में कवि ने अपनी जि
 वेदना का अंकन किया है, वह सम्भवतः भारतेन्दु हो के अपने
 हृदय के साथ चली गयी; इस वेदना का अभाव हमें आज तक
 शक रहता है । निम्नोक्त, भारत की आर्त्त अवस्था का उल्लेख
 भारतेन्दु के बाद प्रायः प्रत्येक कवि ने अपनी कविता में किया है
 परन्तु भारतेन्दु की मर्मभेदिनी पीड़ा का उसमें कहीं अस्तित्व
 नहीं देखा जाता । इस क्षेत्र में आज तक उस कवि की प्रशंसा
 ही हो रही है जो हृदय के अन्तरतम प्रदेश में अनुभव किं
 हुए, अपने कष्ट को भाषा में मूर्त रूप प्रदान करके हमारे कलम
 को उत्तेजित और कार्यकारिणी शक्ति को जागृत करने का
 सफल प्रयत्न करे । पता नहीं, महाकवि “हरिऔध” ने महादेवीजी
 की प्रतिभा को विकास-दिशा को हृदयंगम करने के बाद भी उन्हें
 उक्त प्रतीक्षित कवि के उच्च पद पर आरूढ़ होने तथा उन्नतिको
 में खून लगाकर शहीद बनने के लिए क्यों प्रेरित किया ।

यहाँ हमें एक कहानी का स्मरण हो आता है। एक राजा के जंगल में अचानक आग लग गयी। बहुत से अच्छे पेड़ जले जाने लगे। राजा की सेनाएँ, दुर्भाग्य से एक आक्रमणकारी का सामना कर रही थीं; उन्हें आग बुझाने के सम्बन्ध में कुछ सोचने-विचारने का अवकाश नहीं था। अतएव अन्य राज-कर्मचारियों ने अपनी मनमानी व्यवस्था की। घोषणा की गयी कि राजधानी के सभी व्यक्ति आग बुझाने के काम में सहयोग करें। बड़ी सख्ती के साथ इस आज्ञा का पालन कराया जाने लगा; यहाँ तक कि एक शिवाले में पड़े हुए दो व्यक्ति भी, जिनमें से एक पंगु था, और दूसरा लँगड़ा तथा अंधा था—सिपाहियों द्वारा पकड़ लाये गये और उन्हें भी हिदायत की गयी कि कुएँ में से पानी निकाल निकालकर जंगल की आग में छोड़ें। ये बेचारे भला कर ही क्या सकते थे? इन्होंने बारम्बार अपनी असमर्थता प्रकट की, एक कोने में पड़े रहकर राम-नाम का भजन करने की अनुमति माँगी, उनके लिए ईश्वर के आशीर्वाद का सहस्र बार आवाहन करने की प्रतिज्ञा की। किन्तु सब व्यर्थ! राज-कर्मचारियों ने कुछ भी न सुना। अंत में इन दोनों असहायों की जो दशा हुई उसका वर्णन एक कथित कहानी है; उसे सुनाकर पाठकों का हृदय दुखाना व्यर्थ है।

हमारे देश और समाज की प्रस्तुत दशा उस जंगल की दशा से कम भयंकर नहीं है। निस्संदेह हममें से हर एक को यथाशक्ति समाज की सेवा में लग जाना चाहिए; कवियों को भी इस कर्तव्य-

पालनकी ओर ध्यान देना चाहिए। किन्तु यदि
ओर उनकी प्रवृत्ति नहीं है तो मरहठों की तरह हम
वसूल करने की कोशिश क्यों करें ?

श्रीमती महादेवी वर्मा की कविता का विषय देश अथवा समाज
नहीं है, उस ओर उनके व्यक्तित्व की प्रवृत्ति नहीं है। उनके
रचनाओं में प्रकट रूप से विषाद की प्रचुरता देखी जाती है।
किन्तु वह विषाद अपने पड़ोसों की हृदय-द्रावक दशा के
प्रेरणा का फल नहीं है; व्यक्तिगत कथाओं की तीव्र अनुभूति
भी उसका उद्गम-स्थल नहीं है; अपनी कामनाओं की पूर्ति में
श्रुतियों की कल्पना करके ही उन्होंने अपने दुःख की सृष्टि की
है। “कल्पना” शब्द का प्रयोग हम यहाँ जान-बूझकर कर रहे
हैं। वास्तव में श्रीमतीजी की वेदना किसी यथार्थता से प्रसूता नहीं
है; उनका दुःख वैसा ही है जैसा किसी अमीर आदमी का, मनोरंजन
के लिए, पैदल चलना। निस्सन्देह इस तरह के पैदल चलने
में भी, चलनेवाले की उच्च स्थिति के कारण तथा उसकी सेवा के
लिए तैयार रहनेवाले बाहनों की प्रचुरता की अवस्था में, एक
अनुपम सौन्दर्य का प्रादुर्भाव हो जाता है; किन्तु पैदल चलने के
विज्ञान की दृष्टि से उसमें कृत्रिमता का दर्शन हुए बिना नहीं
रहेगा। श्रीमतीजी का दुःख उनका सैरगाह हो है, यह उनकी निम्न-
लिखित पंक्तियों से भी प्रकट होता है :—

“अपने दुःखवाद के विषय में भी दो शब्द कह देना आवश्यक
जान पड़ता है। मुख और दुःख के धूपछाँही डोरों से बुने हुए

जीवन में मुझे केवल दुःख ही गिन्ते रहना क्यों इतना प्रिय है, यह
हुत लोगों के आश्चर्य का कारण है। क्यों का उत्तर दे सकना
मेरे लिए भी किसी समस्या के सुलझा डालने से कम नहीं है।
संसार जिसे दुःख और अभाव के नाम से जानता है वह मेरे
लिए नहीं है। जीवन में मुझे बहुत दुलार, बहुत आदर और
हुत मात्रा में सब कुछ मिला है परन्तु उस पर दुःख की छाया
हो गई पड़सकी। कदाचित् यह उसी की प्रतिक्रिया है कि वेदना मुझे
तनी मधुर लगती है।”

देवीजी की उक्त पंक्तियों को पढ़ने के बाद हम अपनी तुच्छ
सम्पत्ति उनकी सेवा में समर्पित करने की यहाँ जो धृष्टता करेंगे,
उसमें, वे विश्वास रखें, दोष-दर्शन की प्रवृत्ति कम, हृदय के सच्चे
भाव को—विशेष करके जब उसकी उपयोगिता में भी अटूट
विश्वास हो—व्यक्त कर देने की उत्कण्ठा अधिक है। हमारा मत
है कि वेदना के हवाई किले बनाकर हम अपनी सच्ची कठणा-
भावना के लिए सुरक्षित स्थान नहीं निर्मित करते; जिस पीड़ा में
सत्य नहीं, जिसमें अनुभव की गहराई नहीं वह मनोमोहक भले
ही हो, किन्तु हृदय-द्रावक नहीं हो सकती।

जिसकी अपनी ही वेदना में सत्यता नहीं, उसे पड़ोसी के प्रति
सहानुभूति नहीं हो सकती। ऐसी दशा में उनसे देश की वेदना
को अंकित करनेवाली कविताओं की आशा करना व्यर्थ है। यह
सौभाग्य श्रीमती सुभद्राशुमारी ही को प्राप्त हो सका है।

महादेवीजी की रचनाओं का अध्ययन करते समय यदि उक्त बात को स्मरण रखें तो उस लक्ष्य-शून्य, केन्द्र-शून्य, भावुकता का—जो उनकी रचनाओं में प्रायः पायी जाती है—एक हमारे सामने स्पष्ट हुए बिना न रहेगा। नीचे की पंक्तियों में उक्त असंयत भावुकता ही के दर्शन होते हैं :—

(१)

उच्छ्वासों की छाया में, पीड़ा के झलित में,
निरवासों के रोदन में, इच्छाओं के जुम्बन में;
सूने मानस मन्दिर में, सपनों की मुग्ध हँसी में;
आशा के आवाहन में, बीते की चित्र-पट्टी में।
उन थकी हुई सोती सी, ज्योत्स्ना की पलकों में,
बिखरी उलझी-हिलती सी, मलयानिल की झलकों में;
रजनी के अभितारों में, नवग्रों के पहरों में;
ऊपा के उपहासों में, सुस्काती सी सहारों में।
जो बिखर पड़े निर्जन में, निर्भर सपनों के मोती,
मैं दूँ रही थी लेकर, धुंधली जीवन की ज्योती;
उस सूने पथ में अपने, पैरों की चाप छिपाये;
मेरे नीरव मानस में, वे धीरे-धारे आये।
मेरी मदिरा मधुवाली, आकर सारी दुलका दी,
हँसकर पीड़ा से मर दी, छोटी जीवन की प्याली।
मेरी बिखरी बोझा के, एकत्रित कर तारों को;

टूटे मुख के सपने दे, अब कहते हैं गाने को,
 यह मुरझाये फूलों का, फीका-सा मुस्काना है,
 यह सोतो-सो पीड़ा का, सपनों से दुकराना है ।
 गोधूली के ओठों पर, किरणों का बिखराना है;
 यह सूखी पंखड़ियों में भारत का झुलाना है ॥



इस मीठी-सी पीड़ा में, हूया जीवन का प्याला,
 लिपटी-सी उतराती है, केवल आँसू की माला !

(२)

इन हीरक-से तारों को, कर घूर बनाया प्याला,
 पीड़ा का सार मिखाकर, प्राणों का आसव ढाला ।
 मलयानिल के झोको में, अपना उपहार छपेटे,
 मैं सुने तट पर आई, बिखरे उद्गार समेटे ।
 काँजे रजनी-अञ्जल में, लिपटी लहरें सोती थीं,
 मधु मानस का बरसाती, वारिदमाला रोती थी ।
 नीरव तम की छाया में, द्विप सौरभ की अलकों में,
 गायक वह गान सुगहारा, था मँडराया पलकों में !
 हाला-सी, हालाहल-सी, वह गई अचानक लहरी,
 हूया जग भूला तन मन, आँखें शिथिलाईं सिद्धरी ।
 प्लेसुध से प्राण हुए क्षय, छूकर उन मझारों को,
 उकते थे, अकुलाते थे, धुम्वन करने तारों को ।

उस मतवाली वीथा से, जब मानस था मनवाला,
 वे मूक हुई मझारे, वह चूर हो गया प्याला ।
 होगई कहाँ अन्तर्हित सपने लेकर वे रातें !
 जिनका पथ आलोकित कर, बुझने जाती हैं रातें !

हिन्दी की वर्तमानकालीन कविताओं में एक उल्लेख-
 विशेषता यह देखने में आती है कि कविगण प्राकृतिक प-
 में मानवता-भाव का आरोप करके उन्हें हमारे जीवन के क-
 निकट लाने का उद्योग करते हैं । काव्य में अपूर्व माधुर्य
 करने का यह एक मूल्यवान साधन है । अल्पाधिक मात्रा में
 प्रवृत्ति प्रत्येक अच्छे साहित्यकार में देखी जाती है । एक अ-
 विद्वान् ने भी इसकी उपयोगिता के सम्बन्ध में इन प्र-
 कहा है* :—

* Primitive literature shows that the use
 this figure (personification) was one of the ear-
 est devices of poetic expression. When stars,
 winds and thunder were not yet capable of scienti-
 fic explanation they remained the subject of
 superstition. Natural phenomena were com-
 monly regarded as being of good or evil intent,
 that is, they were credited with personalities. Lightning
 was a beneficent being, Thunder a malignant one.

"आदिकालीन साहित्य के अवलोकन से पता चलता है कि व्यक्तियों की अभिव्यक्ति में मानवता-भाव-समारोप की प्रणाली बहुत लम्बे समय से प्रचलित है। जिस समय तारागण, पवन और वज्र वैज्ञानिक मीमांसा नहीं हो सकी थी उस समय वे अन्ध-विश्वास विषय थे।

प्राकृतिक पदार्थों में कल्याण अथवा अनिष्ट करने की मनोवृत्ति सत्ता का साधारणतया विश्वास किया जाता था। अर्थात् माना जाता था कि उनमें व्यक्तित्व है। वर्षा उपकारक और अग्नि उपकारक समझा जाता था।

ज्योतिर्विज्ञान की प्रगति ने भी सूर्य, चन्द्रमा और ताराओं को व्यक्तित्व से वंचित नहीं कर दिया है, यह कविता के सौभाग्य का प्रमाण है। हम अब भी देवता और देवों के रूप में उन्हें कल्पित करते हैं। हम अपनी सौन्दर्य-भावना को व्यक्त करते हैं। इसके अतिरिक्त वेक अमूर्त पदार्थों में मानव-व्यक्तित्व का समारोप करके हम उन्हें अपने लिए अधिक ग्राह्य और निकटवर्ती बना लेते हैं। निद्रा,

Happily for poetry, a knowledge of astronomy is not depersonified sun, moon, and stars. It is still aesthetically satisfying to regard them as gods and goddesses. Moreover certain abstractions are made more immediate and comprehensible when they are translated into terms of human personality. Sleep, death, wisdom, love,

मृत्यु, बुद्धि, ज्ञान, वदला आदि अनेक ऐसी आकार-रश्मि भाव हैं, जिन्हें कविता ने मानवता-भाव के समारोप-द्वारा अधिक यथ और स्पष्ट रूप में हमारे सामने प्रस्तुत किया है। इन अने भावों, चेतनता-रश्मि पदार्थों और प्रकृति में निस्सन्देह मानव-व्यक्तित्व के शोक, क्रोध, हास्य आदि संकेत मिलते हैं, जिनका कवि विकास किया जा सकता है।”

श्रीमती महादेवी वर्मा ने अपनी कविता में काव्य के रस को चटकीला बनानेवाले इस सुन्दर साधन का खूब उपयोग किया है :—

रजनी ओढ़े जाती थी, झिलमिल तारों की जाड़ी;
 ठसके बिखरे धैर्य पर, जब रोती थी उजिषाड़ी;
 शशि को छूने मचली-सी, लहरों का कर-कर चुम्बन;
 बेसुध तम की छाया का, तटिनी करती आलिङ्गन।

vengeance are some of the abstractions that poetry has made more real and graphic by the method of personification. In these abstractions as well as in nature, and in inanimate objects, there are in fact hints of personality, of anger, of sorrow, and these hints suggest a fuller development.

By them a man is reminded of attributes he finds in men, so he personifies them, pictures them as human.

W. E. WILLIAMS

अपनी जय करुण कहानी, कह जाता है मलयानिल ।
 चाँसू से भर जाता जय—सूखा धवनी का अञ्जल ॥
 परलप के झल हिंसोले, सौरभ सोता कलियों में ।
 क्षिप-क्षिप किरणें धातीं जय, मधु से सींची गलियों में ॥
 आँखों में रात बिता जय, बिधु ने पीला मुख फेरा,
 आया फिर विग्र बनाने, प्राची में प्रात चितेरा;
 कन-कन में जय छाई थी, वह नययौवन की लासरी ।
 मैं निर्धन तब थाई ले, सपनों में भरकर ढाली ।
 जिन चरणों की नख-ज्योती, ने हीरक जाल लजाये,
 उन पर मैंने धुँधले से, चाँसू दो-चार चढ़ाये !
 इन ललचाई पलकों पर, पहरा जय था मोड़ा का,
 साम्राज्य मुझे दे डाला, उस चितवन ने पीड़ा का ॥
 उस सोने के सपने को देरे कितने युग बीते !
 आँखों के कोप हुए हैं, मोती धरसाकर रीते;
 अपने इस सूनेपन थी, मैं हूँ रानी मतवाली,
 मापों का दीप जलाकर, करती रहती दीपावली ।
 मेरी चाहें सोती हैं, इन ओठों के थोठों में,
 मेरा सर्वस्व दिया है, इन दीपानां थोठों में ॥
 पिन्ता क्या है, हे निमन, मुझ जाये दीरघ भोग,
 हो जायेगा तेरा ही, पीड़ा का राग्य अयेग ।

परन्तु इस साधन की उपयोगिता की भी एक सीमा है ।

लिखित पंक्तियों में इस सोमा का अनियमन कर दिया गया

१. कामना की पलकों में झूल
 २. छ स्मृतियों के बाल जगाना
 ३. घायल मन लेकर सो जाती मेघों में तारों की प्यास।
 ४. बहती जिस नक्षत्र-लोक में निद्रा की श्वासों से बात।
 ५. जिस दिन नीरव तारों से, षोलो किरणों की झलकें।
- सो जाग्रो अलसाई हैं, सुकुमार तुम्हारी पलकें।

जिस विद्वान् का मत हम ऊपर उद्धृत कर चुके हैं उसने इस साधन के दुरुपयोग से सावधान रहने की चेतावनी दी है। वह कहता है :—

❧ “मानव व्यक्तित्व का आरोप तभी प्रभावशाली होता है जब वह एक स्पष्ट चित्र की उद्भावना करता है। जब वह केवल कृत्रिम अलंकरण का काम लिया जाता है तब वह सौन्दर्यगत महत्त्व उतना ही क्षुद्र हो जाता है जितना बेल् मिस्टर-अवे की अधिकांश मूर्तियों का, जो आकारों के मत ढेर के सिवा और कुछ नहीं हैं ! विशेष रूप से अठारहवीं शताब्दी में कवित्व की अभिव्यक्ति के लिए वह साधारण अभ्यास-मि

❧ Personification is effective only when it creates a vivid picture. If it becomes merely a conventional decoration, its aesthetic value is as little as that of most of the statues in Westminster Abbey: a mass of figures with significance

वस्तु हो गयी और मे जैसे योग्य कवियों ने भी अपनी पंक्तियों में 'गुलाबी गोदवाली घड़ियाँ', 'चिन्तन का गम्भीर नेत्र', 'नील-तन आमोद-प्रमोद', 'रोषमयी चिन्ता' और 'पीतवर्ण विषाद' आदि भरे शब्दों को स्थान दिया।"

किन्तु उक्त साधन के दुरुपयोग की शिकायत केवल श्रीमती महादेवीजी से ही नहीं, प्रायः उन समस्त कवियों से की जा सकती है जो छायावादी कवि कहलाते हैं।

हम कह आये हैं कि श्रीमती महादेवी की वेदना में गहराई नहीं, मोहकता है। इस विशेषता का अवलम्बन लेकर उन्होंने नायक और नायिका के बहुत मनोहर चित्र अंकित किये हैं। उनके ये चित्र कहीं-कहीं तो मानव-हृदय को कल्पना के उस नन्दन-कानन में विहार कराने की शक्ति रखते हैं, जहाँ [पीड़ा का, व्यथा का, नाम नहीं। नीचे के नायक-चित्रों में पाठक उस अपूर्व सौन्दर्य

During the 18th century, imparticular, personification deteriorated into a custom ary suit for poetic expression and poets as capable as Gray filled their lines with clumsy, lumpish phrases like " rozy-bosomed hours ", " contemplation's sober eye", " blue-eyed pleasures ", " sullen care " and " pale melancholy."

का दर्शन करेंगे, जो उन्हें आकाश में शुभ्र शारद-मेघों की रंग पर शोभित होनेवाले चन्द्रमा के विहसित वदन; वसन्त ऋतु के रात्रि के अंधकार में किसी अदृष्ट रसाल तरु की अदृष्ट डाली पर फूकनेवाली कोयल के मधुर कूजन; तथा वर्षा ऋतु में कस्मात् आकाश को मंद, अनुरंजित हास से युक्त बनानेवाले इन्द्रधनुष के आकर्षण से मिल सकता है :—

जब इन फूलों पर मधु की, पहली धूँदें बिखरी थीं,
 “आँखें पंक्तों की देखीं, रवि ने मनुहार भरी-सी।
 दीपकमय घर डाला जब, जलकर पतङ्ग ने जीवन,
 सीखा बालक मेघों ने, नभ के आँगन में रोदन;
 उजियारी अवगुणधन में, विधु ने रजनी को देखा,
 तब से मैं दूँद रही हूँ, उनके चरणों की रेखा!
 मैं फूलों में रोती वे, आत्मारुण में मुक्ताते,
 मैं पथ में विधु जानी हूँ, वे सौरभ में उड़ जाते।
 वे कहते हैं—उनको मैं, अपनी पुतली में देखूँ,
 यह कौन बता जायेगा, कितमें पुतली को देखूँ!
 मेरी पलकों पर रातें, बरसाकर मोती सारे,
 कहती ‘बया देख रहे हैं, अविराम तुम्हारे तारे’!
 तम ने इन पर अंजन से, धुन-धुनकर चादर तानी,
 इन पर प्रभात ने फेरा, आकर सोने का पानी!
 इन पर सौरभ की साँसें, लुट-लुट जाती दोबानी,
 यह पानी मैं पीती हूँ, मन स्वप्न-लोक की रानी।

कितनी बातों पतझरे, कितने मधु के दिन आये,
मेरी मधुमय पीड़ा को, कोई पर ढूँढ़ न पाये !
झिम-झिम आँखें कहती हैं, यह कैसी है अनहोनी ?
हम और नहीं खेलेंगी, उनसे यह आँखमिचीनी ।
अपने जर्जर अञ्जल में, भरकर सपनों को माया,
इन थके हुए प्राणों पर, छाई विस्मृति की छाया ।

❀ ❀ ❀ ❀

मेरे जीवन की जाग्रति ! देखो फिर भूल न जाना,
जो वे सपना बन आवें, तुम चिरनिद्रा बन जाना ॥

श्रीमती महादेवी की नायिका ने अपने विचित्र नायक की
तुरता अथवा क्रीड़ाशीलता का बहुत मधुर अंकन किया है ।
वे की पंक्तियाँ जिस चित्र की कोमल रेखाओं के रूप में
सुत की गई हैं, वह हिन्दी-साहित्य की अमूल्य सम्पत्ति है :—

अलि कैसे उनको पाऊँ ?

वे आँसू बनकर मेरे,

इस कारण डुल-डुल जाते,

मैं बाँध-बाँध पड़ताऊँ !

मेघों में विद्युत-सो छवि,

उनकी बनकर मिट जाती,

आँखों की चित्रपटी में,

जिसमें मैं आँक न पाऊँ !

ये आना येन खो जाते,
शशि-किरणों की उलझन में,
जिसमें उनको कण-क्षण में,
दूँ, पहचान न पाऊँ !

सोते सागर की धड़कन—

येन, लहरों की थपकी-सी;

अपनी यह करुण कहानी,

जिसमें उनको न सुनाऊँ !

ये तारक-बालाघों, की,

अपलक चितवन येन जाते,

जिसमें उनकी छाया भी,

मैं छू न सकूँ, अकुलाऊँ !

ये चुपके-से मानस में,

आ छिपते उच्छ्वासों येन,

जिसमें उनको साँसों में,

देखूँ, पर रोक न पाऊँ !

ये स्मृति बनकर मानस में,

खटका करते हैं निशिदिन,

उनकी इस निष्ठुरता को,

जिसमें मैं भूल न पाऊँ !

श्रीमती महादेवीजी की उक्त पंक्तियों में जड़ प्राकृतिक पदार्थों के जीवन में प्रवेश कर जाने की, उनके साथ एकाकार स्थिति

करने की उत्कंठा-पूर्ण प्रवृत्ति भी देख पड़ती है। उनके काव्य की यह बहुत बड़ी विशेषता है जो उनके पूर्ववर्ती अन्य किसी आधुनिक महिला-कवि के काव्य में दृष्टिगोचर नहीं होता। उनकी नायिका उस अज्ञात नायक की खोज में रत देख पड़ती है जो उसकी अज्ञान अवस्था ही में उसे आँसुओं का हार पहना गया, जो धादलों की आड़ में बिजली का दीपक लेकर आया था और स्वर्ण-मेघ की कान्ति से युक्त जिसने नायिका के निस्सार-जीवन-रूपी सीप में अपनी करुणा का एक कण गिराकर नायिका के लिए वेदना के मौक्तिक की सृष्टि कर दी थी, आदि-आदि।

नीचे की पंक्तियों में पाठक इस सुन्दर चित्र का अवलोकन करें:—

दूर हँसते तारकों से रुठकर,
कंदकों की सेज पर सपने बिछा;
मंद मारुत के करुण संगीत से,
सो गई मैं एक अलस गुलाब-सी;

आँसुओं का ताज तब पहना गया;
जो मुझे चुपचाप, वह अलि कौन था ?



गूँगू निशि में आँत भंभावात से,
चौकता जब विश्व-निद्रित बाल-सा;
धन पपीहे के हृदय को 'पी कहीं',
मैं भटकती थी रागन पथहीन में;

तय खड़ा था जो धनों की झोटी में,
दीप विद्युत् का लिये, वह कौन था !

❀

❀

❀

काल के जय कूलहीन प्रवाह में,
वह घला निस्सार जीवन सीप-सा;
अधु इसमें एक जिसका टूटकर,
वेदना का मंजु मोती बन गया ।

आज भी है तृपित जय जिसके लिए,
वह सुनहला मेघ जाने कौन था !

❀

❀

❀

कुसुम-दल से वेदना के दाग को,
पोंछती जय आँसुओं से शर्मियाँ.
चौक उदती अनिल के निश्वास छू,
तारिकाएँ चकित-सी, अनजान-सी;

तय हुला जाता मुझे उस पार जो,
दूर के संगीत-सा वह कौन है !

❀

❀

❀

शून्य नभ पर उमड़ जय दुःख-भार-सी,
नैश तम में; सघन छा जाती घटा;
विखर जाती जुगुनुओं की पाँति भो,
जय सुनहले आँसुओं के द्वार-सी;

तब चमक जो लोचनों को मँदता,
तदित की सुस्मान में वह कौन है ?

❀

❀

❀

अवनि-अम्बर की रूपहली सीप में,
तरल मोती-सा जलधि जब काँपता;
तेरते घन मृदुल हिय के पुंज से,
ज्योत्स्ना के रजत पारावार में;

सुरभि बन जो थपकियाँ देता मुझे
नींद के उच्छ्वास-सा वह कौन है ?

❀

❀

❀

जब कपोल गुलाब पर शिशु प्रात के,
सूखते नक्षत्र जल के बिन्दु से;
रसियों की कनक-धारा में नहा,
मुकुल हँसते मोतियों का अर्थ दे;

स्यन्द-शाला में यवनिका ढाल जो
तब दगों को खोलता, वह कौन है !

श्रीमती महादेवीजी की नायिका का यह नायक वृन्दावन-
विहारी श्रीकृष्ण की अपेक्षा कम नटखट नहीं है !—वह श्री कृष्ण
जो पहले तो बाँसुरी बजाकर गोपियों को घर छोड़, कुञ्ज की ओर
दौड़ी आने के लिए विवश कर देते थे और बाद की उन्हें गृह-धर्म

और लोक-धर्म आदि की शिक्षा देकर लौट जाने का आचिन समझाते थे ! उक्त नायिका, गोपिका ही की तरह, अपने श्रीहर से कहती है :—

क्यों इन तारों को उलझाते ?

अनजाने ही प्राणों में क्यों

आ-आकर फिर जाते ?

पल में रागों को मंहुतकर,

फिर दिराग का धस्कुट स्वर भर;

मेरी लखु जोयन-वीणा पर

क्या यह धस्कुट गाते ?

लय में मेरा चिर कहया धन,

कम्पन में स्वप्नों का स्पन्दन,

गीतों में भरचिर सुख, चिर दुख,

कथ-कथ में बिखराने !

मेरे शीशव के मधु में धुल,

मेरे यौवन के मद में दुल,

मेरे आँसू स्मित में दिसमिल

मेरे क्यों न कहाने !

श्रीमती महादेवी के व्यक्तित्व में चिन्तारशीलता की कुछ मिलती है; उनकी नायिका को भी इस चिन्तारशीलता का उल्लास मिला है। अपने अस्तित्व की मांमांमा करती हुई वह कहती है :

कहीं से, आई हूँ कुछ भूल !

कसक-कसक उठती सुधि जिसकी,

रुक्ती-सी गति क्यों जीवन को ?

क्यों अभाव छाये लेता

विस्मृति-सरिता के कूल ?

किसी अश्रुमय धन का हूँ कन,

हृदी स्वर-सहरी की कम्पन.

या ठुकराया गिरा धूल में

हूँ मैं नभ का फूल !

दुख का युग हूँ, या सुख का पल

करुणा का धन, या मरु निर्जल

जीवन क्या है मिला कहीं ?

सुधि भूली आज समूल !

प्याले में मधु या आसव,

बेहोशी है या जागृति नव,

बिन जाने पोना पड़ता है

ऐसा विधि प्रतिकूल !

अपने अनन्त प्रियतम की खोज में भी उनकी नायिका ने चिन्तारशीलता का परिचय दिया है। वह कहती है :—

घोर तम छाया चारों ओर,

घटायेँ चिर आई धन घोर ;

वेग-मारुत का है प्रतिकूल,
 हिले जाते हैं पर्वत (मूल);
 गरजता, सागर मारम्वार,
 कौन पहुँचा देगा उस पार !
 तरङ्गों उठी पर्वताकार,
 भयंकर करतों हाहाकार ;
 अरे उनके केनिल उच्छ्वास,
 तरी का करते हैं उपहास ;
 हाथ से गई छूट पतवार,
 कौन पहुँचा देगा उस पार !
 प्राप्त करने नौका, स्वच्छन्द,
 घूमते फिरते जलचरवृन्द !
 देखकर काला सिन्धु धनन्त,
 हो गया हा साइस का अन्त !
 तरङ्गों हैं उत्ताल अपार,
 कौन पहुँचा देगा उस पार !
 भुल गया यह नक्षत्र प्रकाश,
 चमकती जिसमें मेरी आश ;
 रैन बोली सज कृप्य दुष्टल,
 विसर्जन करो मनोरथ फूल ;
 न लाये कोई कर्णाधार,
 कौन पहुँचा देगा उस पार !

सुना था मैंने, इसके पार

... बसा है सोने का संसार,
जहाँ के हँसते विहग ललाम

... मृत्सु-छाया का सुनकर नाम !

धरा का है अनन्त गंगार,

कौन पहुँचा देगा उस पार ?

जहाँ के निर्मल नीरव गान,

सुना, करते अमरत्व प्रदान ;

सुनाता नभ अनन्त झङ्कार,

बजा देता है सारे तार ;

भरा जिसमें असोम-सा प्यार

कौन पहुँचा देगा उस पार ?

पुष्प में है अनन्त सुस्क्रान,

त्याग का है मारुत में गान ।

सभी में है स्वर्गीय विकास,

वही कोमल कमनीय प्रकाश ;

दूर कितना है यह संसार !

कौन पहुँचा देगा उस पार ?

❀

❀

❀

सुनायी किसने पल में ध्यान,

कान में मधुमय मोहक तान ?

‘तरी को ले जाओ मम्भार,
 दूकर हो जाओगे पार;
 विसर्जन ही है कथाधार,
 वही पहुँचा देगा उस पार।’

इस नायिका ने अपने ‘असीम सूनेपन से भरे हुए मित्र
 जीवन के अभिमान में डूबकर जो कुछ कहा है, वह
 दृष्टव्य है:—

छाया की आँख-मिचौनी, मेवों का मतवालापन ।
 रजनी के रसाम कपोलों पर ढरकीले धूम के फन ॥
 फूलों की मीठी चितवन, नभ की ये दीपाश्लिषी ।
 पीले मुख पर सन्ध्या के, बे किरणों की कुञ्जकविषी ॥
 विधु की चाँदी की धाली, मादक मकरन्द भरी-सी ।
 जिसमें उजियारी रातें, लुटतीं घुलतीं मिसरी-सी ॥
 मित्रक से फिर जाओगे, जब लेकर यह अपना धर्म ।
 कदशमय सब समझोगे, इन प्राणों का मँहगापन ॥
 क्यों आज दिये देते हो, अपना मरकत सिंहासन ।
 यह है मेरे मर-मानस का, चमकीला सिकतापन ॥
 आलोक यहाँ लुटता है, बुझ जाते हैं तारागण ।
 अविराम जला करता है, पर मेरा दीपकसा मन ।
 जिसकी विशाल छाया में, जब आलस-सा सोता है ।
 मेरी आँखों में वह दुख, आँसू बनकर सोता है ॥

जग हँसकर कह देता है, मेरी आँखें हैं निर्धन ।
इनके बरसाये मोती, क्या वह अब तक पाया गिन ?
मेरी लघुता पर आती, जिस दिव्य लोक को पीड़ा ।
उसके प्राणों से पूछो—वे पाल सकेंगे पीड़ा ?
उनसे कैसे छोटा है, मेरा यह भिड़क जीवन ?
उनमें अनन्त करुणा है, इसमें असीम सुनापन ॥

इस अभिमानमयी नायिका में बड़ा वैचित्र्य है। वह अपनी
पति के मिटने की कामना ही नहीं करती, उलटे उसे गले
गाने को तैयार है। सारी कठिनाइयों के हल हो जाने पर भी
ह अपने 'प्राणों की पीड़ा' में तल्लीन हो रहेगी और जहाँ अब
क पीड़ा में प्रियतम का दर्शन करती थी, वहाँ अब प्रियतम
ने पा लेने के बाद उनमें पीड़ा की तलारा करेगी। अपने प्रियतम
। वह कहती है :—

इस एक घूँद आँख में, चाहे साम्राज्य बहा दो ।
परदानों की वर्षा से, यह सुनापन बिखरा दो ॥
इच्छाओं की कम्पन से, सोता एकान्त जगा दो ।
आशा की मुस्काहट पर, मेरा नैराश्य लुटा दो ॥
चाहे जर्जर तारों में, अपना मानस उलझा दो ।
इन पलकों के प्यालों में, मुखका आसन छलका दो ॥
मेरे बिखरे प्राणों में, मारी परुणा डुलका दो ।
मेरी छोटी सीमा में, अपना अस्तित्व मिटा दो ।

पर शेष नहीं होगी यह, मेरे प्राणों की कीड़ा ।
तुमको पीड़ा में डूँदा, तुममें दूँदूँगी पीड़ा !

श्रीमती महादेवी की नायिका रस-ग्रहण करने के लिए लोलुपता और आसक्ति में डूबी हुई भ्रमरों नहीं है । उसमें मधुरता के समय भी इस स्मृति का अस्तित्व है कि मिलन के बाद विरह आगमन होकर ही रहेगा । वह कहती है:—

स्वर्ग का था नीरव उन्छ्यास, देव-वीणा का दूदा सार,
मृत्यु का चणभंगुर उपहार, रत्न वह प्राणों का भंगार;
नई आशाओं का उपवन, मधुर वह था मेरा जीवन !
पीर-निधि की थी मुप्त तरङ्ग, सरलता का न्यारा निरंज,
हमारा वह सोने का स्वप्न, प्रेम की चमकीली आकर;
शुभ्र जो था निर्मेघ गगन, सुभग मेरा संगी जीवन !
अलक्षित था किसने चुपचाप, मुना अपनी सम्मोहन तान,
दिखाकर माया का साम्राज्य, बना डाला इसको अज्ञान !
मोह मदिरा का आस्वादन, किया क्यों हे भोले जीवन !
तुम्हें दुधरा जाता नैराश्य, हँसा छाती है तुमको आश,
नचाता मायावी संसार, लुभा जाता सपनों का डाल,
मानते विष को संजीवन, मुग्ध मेरे भूले जीवन !
न रहता भीरों का आह्वान, नहीं रहता फूलों का राज्य,
फोकिला होतो अन्तर्धान, चला जाता प्यारा अतुराज;
असंभव है चिर सम्मोहन, न भूलो चणभंगुर जीवन !

विकसते सुरझाने को फूल, उदय होता छिपने को चन्द्र,
 शून्य होने को भरते मेघ, दीप जलता होने को मन्द ;
 यहाँ किसका अनन्त यौवन ? अरे अस्थिर छोटे जीवन !
 धलकती जाती है दिन-रैन, लबालब तेरी प्यारी मीत ,
 ज्योति होती जाती है क्षीण, मौन होता जाता संगीत ;
 करो नयनों का उन्मीलन, क्षणिक है मतवाले जीवन ।
 शून्य से बन जाओ गम्भीर, त्याग की हो जाओ झङ्कार,
 इसी छोटे प्याले में आज, डुबा डालो सारा संसार !
 लजा जायें यह सुग्ध सुमन, बनो ऐसे छोटे जीवन !
 सखे यह है माया का देश, क्षणिक है मेरा तेरा सङ्ग ,
 यहाँ मिलता काँटों में मधु, सजीला-सा फूलों का रङ्ग;
 तुम्हें करना विच्छेद सहन, न भूलो है प्यारे जीवन !

श्रीमती महादेवीजी की नायक और नायिका-सृष्टि में जिन तत्त्वां का समावेश किया गया है वे दो-एक अन्य बातों का सहयोग पाकर किसी भी रचना को अमरत्व प्रदान करने की शक्ति रखते हैं। पंडित सुमित्रानन्दन पंत की कविता में जो अभाव है, जिस त्रुटि के कारण उनके शब्द-चित्रों में मार्मिकता का सञ्चार नहीं हो पाता, वही किञ्चिन् अधिक मात्रा में श्रीमतीजी की रचनाओं में प्रवेश पा गया है। और यह त्रुटि है कृत्रिमतापूर्ण स्वप्नलोक में, मायामय विश्व में, विचरण करने की प्रवृत्ति। श्रीमती सुभद्राकुमारी की कविता में न ऊँची कल्पना है, और न उत्प्रेक्षाओं तथा उपमाओं की माला पहनकर ही वद बाहर निकलती है, लेकिन निरलंकार

होने पर भी, उस वनवासिनी सरलतामूर्ति शकुन्तला में, प्रभव डालने की वह शक्ति है, जो पंतजीकी, कल्मष के आभूषणों से लगे हुई, राजभवन-विहारिणी मेनका में नहीं। इसका कारण केवल यही है कि श्रीमती सुभद्राकुमारी ने मानव-हृदय को द्रवित करनेवाले उपकरण के संग्रह की ओर जितना ध्यान दिया है उतना उसे इन्द्र-जाल का तमारा दिखाने में सहायक सामग्रियों के संचय की ओर नहीं; यद्यपि यह कहा जा सकता है कि इस दिशा में किंचित् अधिक सयत्न होकर वे अपनी बहुत-सी रचनाओं की सुघरता को बढ़ा सकती थीं।

जो हो ; हमारा विश्वास है कि श्रीमती महादेवी के सामने एक उज्ज्वल भविष्य है; उनके काव्य के तारुण्य और प्रौढ़त्व की छटा निखर कर निकट भविष्य में हमें अवश्य दृष्टिगोचर होगी। संभव है उस छटा की प्रखरता में वीणापाणि सरस्वती हमारे नंत्रों को चकाचौंध कर देने की शक्ति भर दें; संभव है, जगदम्बिका रूपिणी होकर वह हमारे हृदय को शीतल भी कर दे। इसी दृढ़ विश्वास से प्रेरित और श्रीमतीजी के काव्य के विकसित सौन्दर्य-दर्शन के समय की अधिक से अधिक समीप लाने की कामना के वशीभूत होकर ही हमने उक्त पंक्तियाँ उनकी सेवा में निवेदन करने की धृष्टता की है।





श्रीमती रामेश्वरीदेवी 'चकोरी'

चकोरीजी ने एक कवित्त में स्वयं अपना परिचय
प्रकार दिया है:—

नाम से हूँ विदित 'चकोरी' कवि-मण्डली में,
किन्तु न कलह्नी निशानाय से छली हूँ मैं।
भायुक जनों के मधु मानस-सरोवर में,
पंकज-पराग हेतु भ्रमित अली हूँ मैं।
विमल विभूति हूँ रसों में थारु धरुपना की,
काव्य-कुसुमों में एक नवल कली हूँ मैं।
भक्ति देवि शारदा की, शक्ति दीन दलितों की,
'अरुण' सनेही के सनेह में पली हूँ मैं।

इस परिचयात्मक कवित्त में भी चमत्कार का अभाव नहीं।
चकोरी होकर भी वे वह चकोरी नहीं हैं जिसे कपटी और क
चन्द्रमा अपने छल की पात्री बनाता है। इससे भी अधिक वि
धात तो यह है कि साधारणतया चकोरी को अरुण से स्नेह
होता, क्योंकि अरुण उसके प्रेम-भाजन को निस्तेज कर देता है; वि
चकोरीजी में यह विशेषता है कि वे 'अरुण सनेही के सने
पली' हैं। ईश्वर से प्रार्थना है कि वे 'शारदा की भक्ति' और 'द
दलितों की शक्ति' की मूर्ति बन जायें तथा शीघ्र ही 'नवलक
से 'काव्य-कुसुम' का रूप धारण कर लें। साथ ही एक निवेदन
भी है कि यदि वे वास्तव में अभी तक 'भ्रमित अली' हैं तो
करके 'भ्रमित अलिनी' होने का उद्योग करें, क्योंकि
'अलिनी' होने ही में सरलता सुकुमारता, और माधुर्य संभव है।

'चकोरी' जी ने अपने सम्बन्ध में कुछ और बड़ी सुन्दर पंक्तियाँ लिखी हैं:—

खेला करतो थी बगिचा में, फूलों और तितलियों से ।
 बातें करतो रहतो थी अक्सर उन अस्फुट कलियों से ।
 कितना परिचय था घनिष्ठ नरही की प्यारी गलियों से ॥

×

×

×

किन्तु 'लगा चक्का पड़ने का, कुछ दिन बाद मुझे प्यारा ।
 मिली सांघिने' नयी-नयी वह नूतन जीवन था प्यारा ।
 मेरे लिए विनोद-भवन, महिला-विशालय था सारा ॥

×

×

×

'महिला-विशालय को छोड़ा, नरही की गलियाँ छोड़ीं ।
 बगिया-सी विभूत छोड़ी, हँसतो प्यारी कलियाँ छोड़ीं ।
 साथ खेलेवाली वे बचपन को प्रिय सलियाँ छोड़ीं ॥

×

×

×

वे अतीत की स्मृतियाँ आकर, हाहाकार मचाती हैं ।
 अन्तरतम में एक मधुर-सो, पोड़ा ये उपजाती हैं ॥

'चकोरी'जी ने श्रीयुत उमाचरण शुक्ल के यहाँ बेथर (उन्नाव) में जन्म ग्रहण किया । दो वर्ष की अवस्था में ही आपके पिता का स्वर्गवास हो गया । इस कारण लखनऊ के नरही नामक मुहल्ले में, जहाँ आपका ननिहाल है, आपका लालन-पालन हुआ । महिला-विशालय में आपकी शिक्षा हुई, यह उनकी उक्त कविता-पंक्तियों से भी स्पष्ट है । आपका विवाह सन् १९२९ में चौदह वर्ष की अवस्था में श्रीयुत लक्ष्मीशंकर मिश्र 'अरुण' के साथ हुआ ।

नारी के शारीरिक और मानसिक यौवन का विकास सदा कवियों की कला का एक प्रिय विषय रहा है। धीरे-धीरे बरतते लोप और यौवन के आगमन में है भी कुछ ऐसा ही मधुर सौन्दर्य कि उस ओर सौन्दर्यान्वेपी की दृष्टि गये बिना रह नहीं सके। विहारोलाल ने भी कहा है:—

छुटी न शिशुता की कलक कलक्यो जोवन पर ।

दीपति देह दुहुन मिलि दिपति साकता रंग ॥

इस दोहे में कवि ने उस सौन्दर्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है, जो शैशव और यौवन के सम्मिलन से बनता होता है। विद्यापति आदि ललित कवियों ने भी इस सौन्दर्य को मुक्त कंठ से गान किया है। किन्तु एक नारी ही इस सम्मिलन का क्या कहेंगी, यह जानना काव्य-रसिकों के लिए कम कौतूहल का स्रोत नहीं है। 'चकोर'ों को निम्नलिखित पंक्तियों में उनके सौन्दर्य विषयक उद्गारों को देखिए:—

पुष्प पड़ो, कहीं से आये हो, मतयात्री व्यापना सेना !
मरकत के स्वास्त्रे में भर दो, यह किम्वदो मादकता सेना !
शैशव के मुग्ध आंगन में, तुम पुष्प के से आगरे बनी !
भाँचे-भाँचे चंचल मन में, खज्जा-रंग भरता गये बनी !

कि

कि

कि

खे गये पुनः किम्वदो हो, कहीं वह जीवन शायन तारा की का !
विचर, खज्जा-रंग, निर्विभंग, मुग्ध, मुग्ध, और मनमो की !

उस छोटे से नन्दनवन में, जिसमें न पुष्प थे, कलियाँ थीं ;
ये भाव नहीं, आसक्ति न थी, केवल प्रमोद रँगरलियाँ थीं ।

❀

❀

❀

संकुचित कली की पंखुरियाँ छू चुपके-से विकसा दीं क्यों ?
सौरभ की सोई-सो अलकें आसक्त कदो उसका दीं क्यों ?
उस शान्त-सिन्धु नीरवता में प्रलयंकर कम्पावत मचा ;
यह कैसा कायाकल्प किया—यह कैसा माया-जाल रचा ।

❀

❀

❀

लज्जा का अंजन लगा दिया, उन चपल हठीली आँखों में ।
लगेवे लूट स्वातंत्र्य-सौख्य हे हठी लुटेरे' आँखों में ॥
नन्हें मन में किस भौंति अचानक आज प्रणय को पहचाना ।
अभ्यन्तर में क्यों सुनतो हूँ पीड़ा का व्यथा-रिक्त गाना ॥

❀

❀

❀

उर-अन्तर किसके मिलने को अज्ञात भावनाएँ भरकर ।
उन्मत्त सिन्धु-सा उबल पड़ा अपना लेने किसको बढ़कर ॥
उस सरल हृदय में यह कैसा अभिलाषाओं का इन्द्र हुआ ।
उपान हुआ या पतन हुआ, दुख हुआ, या कि आनन्द हुआ ॥

❀

❀

❀

भंग-भंग मूक सम्भाषण की यह कैसी जटिल पहेली है ।
पतलायो तुम्हीं, तुम्हारी ही उलझाई अखिल पहेली है ॥

यौवन का आगमन होने पर स्त्री और पुरुष का आकर्षण जिज्ञासु के लिए एक विचित्र पहली के तुल्य हो जाता है। 'चकोरीजी' की निम्नलिखित पंक्तियों में यह जिज्ञासा व्यक्त योग्य है:—

क्या है यह आकर्षण ? कैसा है इसका इतिहास ?
 भाँखों के मिलते ही बढ़ती क्यों अलखों की प्यास ?
 अधर खोजते रहते अस्फुट अधरों की मुद्रात;
 यौवन हाथ पसार माँगता क्यों यौवन का दात ?

❀

❀

❀

हृदय स्वयं ही कर लेता है न्याय हृदय का भार;
 धन जाता है अपनापन क्यों अपना ही अभिभार !
 एक वासना है, उसको सब क्यों कहते हैं त्वार !
 अचिर उमङ्ग-जनित यह कैसा है कलुषित व्यापार !

❀

❀

❀

अब न देखना पगलो इस नश्वर यौवन का श्रम ॥
 एक सुनहरी छाया, जिस पर हँसता रहे अनम्र ।
 इसी क्षणिक अस्पष्ट स्वप्न की परिभाषा है पार ।
 जिसमें सोमित है ममता के जीवन का अनुत्पार ।

'चकोरी'जी ने निम्नलिखित पंक्तियों में नारी के बहुत सुन्दर चित्र अंकित किये हैं:—

[१]

भव-सागर के तट पर अज्ञान, सुनती हूँ वह कलरव महान ।
एकाकी हूँ कोई न संग, उठती है रह-रह भय-तरङ्ग ॥
केवल यौवन का भार लिये, बैठी हूँ सूना प्यार लिये ।
करते हैं बादल अश्रु-दान, घन का सुनती गर्जन महान ॥



भाती है तवित विराग लिये, बिछड़ी स्मृति का अनुराग लिये ;
होता है भीषण अदृशस, लुप्त जाता है वह भी प्रकाश ॥
माहन का वेग प्रचंड हुआ, वह उदधि हृदय भी खंड हुआ ।
ओढ़े काले रँग का दुकूल, है अन्त-हीन-सा सिंधु-कूल ।



उत्ताल तरंगों धड़ आई छूने की मेरी 'परिछाई' ।
उन संभ्रम शिथिल झकोरों की, ममता-सी मृदुल हिलोरों की ॥
लेकर सप शून्य उमंगों को, पकड़ा उन तरल तरंगों को ।
वह चली त्याग पीड़ा-विपाद, सुष-हीन हुई, मिट गई साध ॥



सहसा कानों में उपा-गान, फनफना उठा छु शिथिल प्राण ।
सागर की धड़कन शान्त हुई, वह स्वप्न-नाटिका अंत हुई ॥
खिलखिला पड़ा अग एक बार, आ पहुँचा मेरा कर्णधार ।
यौवन-कलिका धी जाग उठी, लहरों की शरणा त्याग उठी ॥

अपण कर प्रेम पराग मुझे नाविक ने दिया सुहाग मुझे।
 नाविक की वह पतवार-हीन, नौका थी जर्जर, अति मज्जीन।
 द्रुत गति से नौका यहती थी, कुंड मीन स्वरो में कहती थी।
 इस बार तरंगों मचल पड़ीं, तरंगी के पथ में अचल बड़ीं।

मैं काँप उठी, उद्भ्रांत हुई, जर्जर नौका भी शांत हुई।
 रक्षक भी मेरा था अधीर, दृग-कोशों से वह चला नीर।
 सहसा तरंगी जल-मग्न हुई, छाया-सी चय में भग्न हुई।
 प्राची में अरुण मुन्कुराया, लहरों ने प्रलय-गान गाया।

मेरा नाविक वह गया कहीं, जीवन सुना रह गया वहीं।
 फिर बिलरा दी संचित उमंग, छे गई उसे भी जल-तरंग।
 मैंने हो पथ-दर्शक-विहीन, कर लिया सिन्धु में आत्मलीन।
 कितना अथाह ! कितना अपार ! ले चली मुझे भी एक धार।

छूटे भव-बंधन, चाह नहीं, हो जाय प्रलय परवाह नहीं।
 जाती हूँ मैं उस पार वहाँ, है मेरा प्राणाधार जहाँ—
 पीने को सुख से लूट-लूट, वह प्रणय-सुधा की एक घूँट।

[२]

होती यदि मीठी रागिनी मैं किसी कोयल को
 होती यदि शान्त सरिता का एक कूब मैं ।

भ्रमरों को नित्य ही कराती मधुपान, यदि—

होती मन्त्रु चाटिका का प्राण एक फूल में।

भावमयी कल्पना जो कवि की 'चकोरी' होती,

होती कहीं विरहो के अन्तर की शूल में।

सूयती सप्रेम में तुम्हारे चरणों को नित्य,

होती प्राणनाथ ! यदि मारग की धूल में।

[३]

न मैं हूँ शैशव का मृदुहास, न मैं हूँ यौवन का उन्माद।

न मैं हूँ भावि, न मैं हूँ अन्त, न हूँ बुद्धापन का अचसाद।

प्रकृति की हरियाली से तोख, हमारे जीवन का क्या मोख !



न हूँ मैं किमी द्वार की भीत, न मैं हूँ किसी हृदय का प्यार।

न मैं हूँ शान्ति, न मैं हूँ आति, न मैं हूँ सुखद प्रणय-उपहार।

समीरण के कंचन से तोख, हमारे जीवन का क्या मोख !



न मैं हूँ पूजा, न मैं हूँ प्रेम, न मैं हूँ ध्यान, न मैं सम्मान।

न हूँ आशा की उज्ज्वल-उपोति, न मैं हूँ गान, न मैं अभिमान।

निरा के अन्धकार से तोख, हमारे जीवन का क्या मोख !



जिसे सुनता हूँ केवल स्वप्न, वही मेरा जीवन-संगीन।

वही सोमिल, जग का अनुताप, वही है मेरा विमुक्त, अतीत।

विरह को महारता से तोख, हमारे जीवन का क्या मोख !

थरे हूँ वन्य-कली सो देव, मादियों में खिलती अनगर।
न सौरभ है, न मधुर मकरंद, न है अनरों का मोहित गगर।
कौन सकता है मुझको तेल, हमारे जीवन का क्या मोल !



किन्तु आयी हूँ विकने आज, तुम्हारे ही हाथों हे नाथ।
यब न दुकराना, करलो मोल, नाथ ! मेरे प्राणों के नाथ।
थरे अपनी पद-रज से तेल, वही मेरे जीवन का मोल !

[४]

किसने आज प्रणय-बंधन को टूक टूक कर डाला !
थरे-थरे ! उसका दो किसने जीवन को यह ज्वाला !
आँसू नहीं, हृदय के टुकड़े हैं, या मूक निराशा।
सुख-स्वप्नों ने हाथ ! पिलाया मुझको विष का प्याला ॥
वही धर्म था, वही प्राण था, मेरा वही ज्ञाना।
उसके बिना व्यर्थ कहलाता है सिंदूर सजाना ॥



देख, देख, ओ निठुर ! देख शून्य-हृदय दर्पण में।
डाल दिया तूने परदा जीवन के प्रथम चरण में ॥
थरे, न देखा एक बार वह प्रेम अलौकिक मेरा।
दलित कर दिया, कुचल दिया उन इच्छाओं को पण में ॥
भोलेपन में उलझ, न समझा, वह उपहास अनोखा।
कैसे थी वह जटिल पहेली, कैसा निर्मम घोसा ॥

निद्रा थी, या तंद्रा थी अथवा अचेतना गहरी ।
 घरे, अचानक उठी भ्रान्ति की कैसी भीषण जहरी !
 भूल कि जिसमें समझ न पाई सर्वनाश की घड़ियाँ ।
 किस अनंत में लीन हुई दुनियाँ वह सुखद, सुनहरी ॥
 किसने शांति दीन अंतर में हाहाकार मचाया ।
 किसने मेरे मधुर हास्य पर डाली काली छाया ॥



सुख निर्धन का घुरा लिया धन किम छलिया ने, खोलो ।
 हँसी हँसी में या कि सत्यही, यह रहस्य अब खोलो ॥
 ला भाई ! ला, वह विभूति मेरी मुझको लौटा दे ।
 अपनी हँसी और दुख मेरा सोचो, समझो, तोलो !
 घरे, द्रव्य-लोलुप समाज ! अविवेकी ! अस्थाचारी ।
 कठिन रुढ़ियों में जपड़ी क्यों तेरी ममता सारी !



सुन पड़ता अन्धन्तर में जब इयथा-पूर्ण संगीत ।
 नेत्रों के सम्मुख नचता, जब वीभक्-पूर्ण अतीत ॥
 दक वेती जब सुख-स्वप्नों को, धूमिल मोठी आद ।
 कर देता है सर्वनाश का, अन्धकार भयभीत ॥



जब भर के ही लिए सही, पर कुछ तो रख लो मान ।
 श्रुतों की उजड़ी समाधि पर दो फूलों का दान ॥

राष्ट्र 'धर्म' का मुना न बिगने, खेचर जग में बन।
 क्यों न तुम्हों में धात्र प्रपन्न का, पा पाये बुद्ध बन।



कभी-कभी मोषा करती हूँ "यह संसार क्या"।
 धौन यहाँ अपना, जीवन भी दुःख का सागर।
 ममभरी पाखी में बँधी, सोई स्मृति सत्त्व।
 "पगलो ग्योत्र शक्ति तू अपनी, अपना पैर पार"।

धफोरीजी की कविता में नायक के भी सुन्दर चित्र मिलते हैं—
 उदित नभ में होता राधेश, उमो में प्रतिबिम्बित, अनुक्त,
 तुम्हारा शान्त अलीपिक रूप, दिगाह देता है अभिप्रेत।
 देखाती हूँ मैं उल्लसित नाय ! उठा जीवन की प्याली रिक।



कल्पना धुँधले पथ पर हाथ ! खोजकर थकी न पाया पार।
 दुःखा अभिलाषाओं का अन्त, और पीड़ा का कटु सञ्चार।
 किया नेत्रों ने कुछ सन्ताप, गिरे आकुल मोती दो-चार॥



उन्हीं मुष्कायों से चुपचाप, होगये सज्जित कलित कपोल।
 लिया अश्रुत में उन्हें समेट, बने वे जीवन-निधि अनमोल।
 उन्हें ही मेरे पथ पर नाय, दिये हैं आज अचानक खोल।



विश्व पढ़नाती भी हूँ हाथ, बना लेती यदि मञ्जुल हार।

तुम्हारे घरलों में समेट, पता देती अपना उपहार ।
 वही स्वीकृत होतो यह भेंट, क्यों न मिल जाता विदुहा प्यार !



प्यार ! मेरा यह विदुहा प्यार, किया जिम्मे डर-छन्नर मग्न ।
 उमो पीड़ा-शराद में निम्न, बहा वरनों हूँ येपुत्र मग्न ।
 और ज्वाला-यो एक अनन्त, भरम करने में है संलग्न ॥



हमारे जीवन-सुर का आज, हुआ छात्रोचित प्रथम प्रकार ।
 किन्तु हा ! मिटा न अन्तर्दाह, न होना निमज्ज भाग्याकार ।
 गिरा यह शून्य, शुष्क निर्जीव—होगया दूसरा शीघ्र विनाश ॥



किन्तु ये माँती घर भी शेष, बने हैं जीवन के चालीक ।
 वहाँ सच्चिन्, अक्षय में नाथ, यम-तूंक रखते हैं रोक ।
 पुलक उठता है मानस मग्न । एक पक्ष को बस ठन्हें विलोक ॥

दीपक के लायण्य पर अपने आपको निद्रावर कर देनेवाले
 जग को सम्बोधित करके 'चकोरी' जी ने कुछ बहुत ही भावपूर्ण
 और शिक्षाप्रद पंक्तियाँ लिखी हैं :—

जिसमें भरी मोहनी शक्ति है क्या, जिसको जल हो सुख पाने कहे ?

उसके उस ज्वालामुखी तन को किस लाजब मे लिपटाते कहे ?

किस प्रांति की जादूगरी में कैसे तुम कौनसा हो सुख पाने कहे ?

पद के किस घाह की आग में यों अपने तुम प्राण गँवाते कहे ?

उस निष्ठुर दीपक देवता से बरदान की आशा लगाना डरा।
 करते हो उपासना, खूष करो, पर चौगुना पाव चढ़ाना डरा।
 उससे न मिलेगा तुम्हें कुछ भी भ्रम में मन को ठलभाना डरा।
 सुख साथ है जीवन के जग में जल के कहीं प्राण गँवाना डरा।



तुमको कर भस्म समूल पतंग, यो दीपक तो जलता ही रहा।
 परवाह न प्रीति को की उसने वह नित्य तुम्हें खलता ही रहा।
 अपनी विष से भरी सुन्दरता को दिखा तुमको घलता ही रहा।
 तुमने किया प्रेम औ प्राण दिये उसका क्रन तो चलता ही रहा।
 किन्तु 'चकोरी' जी की कवि-प्रतिभा जहाँ शिष्टक की कान्ति
 से ये पंक्तियाँ लिखाती है वहाँ पतंग की ओर से, उसके भावों की
 सच्चा प्रतिनिधित्व करते हुए निम्नलिखित पंक्तियों को भी जन्म
 देती है।

जलने दे ! जलने दे ! निर्दय मत उसका यह भाग !
 जलनेवालों की पीदा से क्यों इतना अतुराग !
 सोचा है, पतंग क्यों करते हैं दीपक से प्यार !
 उसी अन्त में सुख है, जिसको कहते धरपाचार !
 ओ ममत्व ! तू भी हँ, जज जा इस जगला के संग ।
 सोने की लपटों से कर ले थाज सुनहला रंग ॥

चकोरीजी की कविताओं में देश की करुण वेदना का स
 भी सुनायी पड़ता है:—

कितने अटल युगों से सुनती आती हूँ यह बात ।
 दूर-दूर है अभी दूर है मेरा स्वर्ण प्रभात ॥
 अधिकारों की माँग, दासता का है भीषण पाप ।
 घात और प्रतिघात पत्तन के कहलाते अभिशाप ॥
 'अभी नहीं सुखे हूँ मेरे उर के सीखे घाव ।
 जिसकी कसक जगाती रहती है विरोध के भाव ॥
 मानवते ! कुछ ठहर, न उसका, क्षिपी हुई वह आग ।
 आज शहीदों के शव पर गाने दे व्यथित विहाग ॥
 चकोरीजी की कुछ अन्य रचनाएँ नीचे दी जाती हैं । इनमें
 कवि-भावुकता का चमत्कार देखने योग्य है :—

[१]

प्रतिरोध

अरे ! छेड़ मत, इस तंत्री के अस्त-व्यस्त हैं तार ।
 रहने दे, रहने दे अपना झूठा, अणिक दुलार ॥
 मत दिखला मुझको मुख-स्वप्नों का सुन्दर संतार ।
 अरे ! प्रजोभन-पूर्ण हटा ले जा अपना उपहार ॥
 नहीं चाहिए मुझको तेरा वैभव-पूर्ण विपाद ।
 हाय ! वेदनाहीन करेगा, यह है कैसा नाद !
 वहीं प्वंस हो जाने दे चिर-संचित मधुर उमंगें ।
 यहीं लीन होने दे इच्छाओं की तरल तरंगें ॥
 दूर, दूर, मत रोक मुझे इस सरिता में बहने दे ।
 मौन स्वरो में विसृति की अब मुझे कथा कहने दे ॥

[२]

खँडहर से—

अरे, कौन तुम शान्त पथिक से यहाँ पड़े हो मूर्च्छित-से,
किस प्राचीन विगत वैभव के विस्मृत चिन्ह अपरिचित-से !

कहो अपना इतिहास
किया किसने यह काम ?

हुआ तुम्हारा किन हाथों से था अनुपम शृंगार,
कभी जगमगाते थे धारणकर तुम विद्युत्-हार ।

तुम्हें भी क्या तब शक्ति
आज निकली जो शक्ति ?

कभी गगन-सुम्बन करने के थे प्रयत्न में चूर,
रत्नों से थे जड़ित, रम्य रुचि आभा थी भरपूर ।

तुम्हारा वह उत्सार
पतन का ही था कारण ?

कभी महाराजाओं के थे तुम सुख-शयनागार,
कभी निराश्रित पथिकों के थे बने तुम्हीं आधार ।

वही तुम यों बनकर
पड़े हो अब निराश्रित ?

अरे, कौन तुम, ज़रा बता दो, किस समाधि में लौट,
हुए भूपति, नग्न-भस्म यों मौन, शून्य, इत, दीन ।

तुम्हारा स्वर्णोद्यान,

हुथा कैसे पापाय !

जगत तिरस्कृत करता है तुमको अब भूल थलीत;

तुम्हें देख प्रति व्यक्ति आज हो जाता है भयभीत ।

तुम्हारी दशा विलोक,

शोक को होता शोक !

ठोकर खा, अपमानित हो सदियों से हो तुम सोते ;

अपनी दीनावस्था पर क्या नहीं कभी हो रोते !

लखो तो मेरी ओर,

मौन की तोड़ो डोर !

धरे, कदो यह 'कसक-कहानी' जो बरसाती पीड़ा,

किस कठोरता ने उर-अन्तर पर की हँस-हँस क्रीड़ा !

कौन फल सहते आज,

तुम्हारे भग्न समाज ?

एक पार इस निर्जनता में प्रलय-गान दो जेद !

किये गये शरणाचारों की तह दो आज उधेद !

जला दो वहि सक्रोध,

उसी से लो प्रतिशोध !

अपने जीवन के रहस्य का प्रथम पृष्ठ दो खोल;

धरे, देख लूँ पतित ! आज तुम किन्ने हो धनमोल !

अभी है क्या कुछ सार ?

हो चुके या निस्तार !

[३]

दीपावलि !

ओ ज्योतिमयी ! सौन्दर्यमयी ! आओ दीपावलि ! स्वागत है !
 आनन्दमयी ! उत्साहमयी ! आओ दीपावलि ! स्वागत है !
 ये नन्हें-नन्हें से प्रदीप, जगमगा रहे दीवालों पर,
 मानों कहते हैं सानुरोध, आओ दीपावलि ! स्वागत है !
 इस बार कहो क्या शक्ति और साहस लेकर तुम आई हो !
 यदि हाँ, तो ओ ओदाय्यमयी ! आओ दीपावलि ! स्वागत है !
 अथवा स्वदेश श्री-हीन देख, धन-धान्य पूर्ण करने आई !
 आओ लक्ष्मी ! आओ जननी ! आओ दीपावलि ! स्वागत है !
 क्या स्वतंत्रता की देवी हो अथवा भारत-सौभाग्य, कहो,
 हम सब में शक्ति जगाने को, आओ दीपावलि ! स्वागत है !
 या अमर शहीदों की समाधि पर तुम दो फूल चाने को,
 कुछ ममता लेकर आई हो, आओ दीपावलि ! स्वागत है !
 या भारत के सपूत प्यारे, मर मिटने को जो निकल पड़े,
 उनका प्रण सफल बनाने को, आओ दीपावलि ! स्वागत है !
 हम सब स्वतंत्रता-वेदी पर, अद्यावलि लेकर लगे हुए,
 हे देवि ! उसे तुम प्रदक्ष करो, आओ दीपावलि स्वागत है !

[४]

अदृश्य चित्र

धरे चित्तेरे ! किस भविष्य का तूने चित्र यत्नाया !
 यत्ना, यत्ना, किसके मानस का है यह भाव चुराया !

शैशव के भोलेपन-सी, नवयौवन की धाँधी सी—
धरे यता, किसके अदृष्ट की यह अज्ञान प्रतिध्याया !

❖ ❖ ❖

क्या भविष्य इतना उज्ज्वल है, योल धरे मतयाले !
क्या न इसे भी ढक सकते हैं यादल काले-काले ?
अभी बिहँसती है प्राची में जो यह स्वर्णिम रेखा ॥
धाती होगी निशा-तिमिर के भीषण तीर सँभाले ।

❖ ❖ ❖

धरे प्रवंचक ! अब न पिला इस सादकता की दास्ता ॥
धरे देखने दे भविष्य का केवल अमिट उजाला ।
हाय, तनिक तो सोच कि जग का नित्य नियम है कैसा !
सुख को गोदी में ही तो पलती जीवन की ज्वाला ॥

❖ ❖ ❖

संस्तुति के झूठे सपनों में मन को मसता भूली—
धरे चितेरे ! अब न फेर इस पद पर अपनी तूली !

[५]

उस समय

५॥ पो वह विषाद की मदिरा, बीया बेमुघ हो जाती ।
उन थके हुए तारों पर, विस्मृति आकर हठलाती ॥
झिलझिल तारों में छिपकर, आती है निशि दीवानी ।
लिख जाती तम के तट पर, भूली वह कसूर्य कहानी ॥

तब स्वर्ग लुटा देता है, होकर जग सुप्त अचेतन ।
 पलकों पर स्वप्न थिरकते, जीवन के वैभव से बन ॥
 नीरवता के नर्तन में, सुनेपन की वे मद्रियाँ ।
 कहतीं कुछ मौन स्वरो में सस्मित नभ की फुलझड़ियाँ ॥



छूकर आकुल माखों को, उनका संदेश निराला ।
 आ मुग्ध पिला जाता है, पागल पीड़ा का प्याला ॥
 उल्लास लिये अन्धल में मदमाती हो हठलाती ।
 कुछ हँसती, कुछ सकुचाती, चाँदी-सी रातें आती ॥



उनमें चित्रित है मेरा, बेसुध अतीत भलसाया ।
 किस युग से देख रही हूँ, उसकी घुँघरी-सी छाया ॥
 वह दिव्य ज्योति स्मृति नभ की, मैं विस्मृति की अधिपति ।
 उसके मलीन अन्धल में है क्षिपी साधना प्यारी ॥



विखरे आँसों के मोती, आहें ले गयी उड़ाकर ।
 चमकीले स्वर्ण-कणों को जड़ दिया चित्तिज पर जाकर ॥

चकोरीजी की यह कामना भी अत्यन्त अभिरामतामयी है :-

गगनाणल में कलाकार के हास्य-सा चंद्रमा भी मुसक रहा हो ।
 निशा के बिष्ट मार्ग में चाँदनी के अति कोमल पुष्प बिदा रहा हो ।
 मनोमन्दिर में प्रतिमा निशा की रख मुग्ध-मा प्यान लगा रहा हो ।
 मणि-माणिक के बँधे तोरण हों, नभ तारों के दीप जला रहा हो ।

जग हूँ रहा हो अचेतना में, यमुना कल गान सुना रही हो ।
 उन्हीं राधिका-कृष्ण की प्रेम-कथा के मनोहर चित्र बना रही हो ।
 कुछ खेत-सी हो यमुना की तटी जो अतीत के पृष्ठ गिना रही हो ।
 वहाँ रुठ के बैठ गया हो चकोर, चकोरी सभक्ति मना रही हो ॥



वहीं बैठ के ध्यान तुम्हारा धरूँ, तन-प्राण तुम्हों में विसर्जन हों ।
 पद पूजने को कुछ हो या न हो, पर आँसुओं के बिलारे क्या हों ।
 फल, अक्षत, पुष्प हों भावना के, तुम्हें बैठने को हृदयासन हो ।
 कल आरती भक्ति-प्रदीप जला, उस ज्योति में भारती-दर्शन हो ॥

अभी चकोरीजी का अल्प वय ही है, फिर भी उन्होंने अपनी सहृदयता से काव्य-रसिकों को आनन्द प्रदान करने की चेष्टा की है। आशा है, उनकी लेखनी, प्रौढ़ता प्राप्त होने पर, इस क्षेत्र में, अपूर्व रस की वृष्टि करेगी। एक विनम्र प्रार्थना के साथ हम अपने इस निवेदन को समाप्त करते हैं। और वह यह कि वे काव्याराधना में अपने हृदय उद्गारों की अभिव्यक्ति में किंचित् अधिक संयत होने का उद्योग करें।



पुरुषार्थवती देवी



श्रीमती पुरुषार्थवती देवी का जन्म ८ अक्टूबर सन् १९११ को, दिल्ली में, लाला चिरंजोतलालजी के यहाँ हुआ था। सेना है, इस होनहार और प्रतिभाशालिनी बालिका को अल्प वय ही में इस संसार से विदा ले लेनी पड़ी; ११ फरवरी, सन् १९३१ को इतना स्वर्गवास हो गया। इनकी जिन रचनाओं का अवलोकन यहाँ पाठक करेंगे, वे अधिकांश में विवाह के पहले ही, जो २४ अगस्त, सन् १९३० को हिन्दी के सुयोग्य लेखक श्रीयुन् चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के साथ सम्पन्न हुआ था, लिखी गयी थीं। इन रचनाओं के सम्बन्ध में एक समालोचक का “विश्वमित्र” में प्रकाशित मत देखने योग्य है। वे कहते हैं:—

पंत जी के “पल्लव” और “वीणा” के बाद हिन्दी की कविताओं का ऐसा अच्छा संकलन हमें कहीं अन्यत्र देखने को नहीं मिला। हमें अत्यन्त खेद तथा लज्जा के साथ स्वीकार करना पड़ा



स्य० श्रीमतो पुरुषार्थवर्तीदेवी

है कि लेखिका के नाम से और उनकी कविताओं से हम आज पहले पहल परिचित हुए हैं। एक आश्चर्यमयी प्रतिभाशालिनी स्त्री-कवि ऐसी सुन्दर, सरस और भावुकता-पूर्ण कविताओं को लिखकर इस लोक से सिधार भी चुकी और हम उसके नाम से भी परिचित न रहे, इस अचम्भ दोष के लिए हमारी उदासीनता बहुत-कुछ अंश में दायी हो सकती है। तथापि हिन्दी के उन “प्रोपेगेण्डिस्ट” आलोचकों का भी इसमें कुछ कम दोष नहीं है, जो अपने किसी विशेष गुरु के लेखक अथवा लेखिकाओं की प्रशंसा में “अहोरूप-महोच्चति” के नारे लगाते रहते हैं और पक्षपात-हीन होकर वास्तविक योग्यता की खोज के लिए कभी लालायित नहीं रहते। सामयिक पत्रों में पेशेवर साहित्यिकों की निन्दा-स्तुति की अनावश्यक घर्चा के बदले यदि हमारे साहित्यालोचकगण वास्तविक प्रतिभा-सम्पन्न लेखक-लेखिकाओं की अपरिचित अथवा अल्प परिचित रचनाओं को प्रकाश में लाने की चेष्टा करते, तो हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में आज पांधागर्दी और नूतन-मै-मै का योलवाला न होता।

श्रीमती पुरुषार्थवती की एक-एक कविता हमें “अनाघात-पुष्प” की तरह नवीन और निष्कलंक लगी है। उनकी सरसता और कमनोयता जैसी अतुलनीय है, विचारों की प्रौढ़ता और भावों की विचित्रता में भी उनका स्थान उसी प्रकार निराला है। मालूम हुआ है कि केवल उन्नीस वर्ष की अवस्था में ही उनका प्राणान्त हो गया। इस कारण उनकी परवर्ती कविताओं से रहस्यमय भावों की समीक्षा हमें और भी आश्चर्य-चकित करती है। उनके ‘रोमाण्टिक’

है कि लेखिका के नाम से और उनकी कविताओं से हम आज पहले पहल परिचित हुए हैं । एक आश्चर्यमयी प्रतिभाशालिनी स्त्री-कवि ऐसी सुन्दर, सरस और भावुकता-पूर्ण कविताओं को लिखकर इह लोक से सिधार भी चुकी और हम उसके नाम से भी परिचित न रहे, इस अक्षम्य दोष के लिए हमारी उदासीनता बहुत-कुछ अंश में दायी हो सकती है । तथापि हिन्दी के उन “प्रोपेगेण्डिस्ट” आलोचकों का भी इसमें कुछ कम दोष नहीं है, जो अपने किसी विशेष गुट के लेखक अथवा लेखिकाओं की प्रशंसा में “अहोरूप-महोष्मतिः” के नारे लगाते रहते हैं और पक्षपात-हीन होकर वास्तविक योग्यता की खोज के लिए कभी लालायित नहीं रहते । सामयिक पत्रों में पेशेवर साहित्यिकों की निन्दा-स्तुति की अनावश्यक चर्चा के बदले यदि हमारे साहित्यालोचकगण वास्तविक प्रतिभा-सम्पन्न लेखक-लेखिकाओं की अपरिचित अथवा अल्प परिचित रचनाओं को प्रकाश में लाने की चेष्टा करते, तो हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में आज धांधागर्दी और नूतू-मै-मै का धोलवाला न होता ।

श्रीमती पुरुषार्थवती की एक-एक कविता हमें “अनाघ्रात पुष्पम्” की तरह नवीन और निष्कलंक लगी है । उनकी सरसता और कमनीयता जैसी अतुलनीय है, विचारों की प्रौढ़ता और भावों की विचित्रता में भी उनका स्थान उसी प्रकार निराला है । मालूम हुआ है कि केवल उन्नीस वर्ष की अवस्था में ही उनका प्राणान्त हो गया !

इस कारण उनकी परवर्ती कविताओं से रहस्यमय भावों की गम्भीरता हमें और भी आश्चर्य-चकित करती है । उनके ‘रोमाण्टिक’

भाव रहस्यमय हैं। सन्देह नहीं; तथापि अमावस्या के गहन तिमिर के आवरण-जाल के भीतर स्वच्छ, तरल तारकाओं की तरह टिम-टिम करते हैं। प्रारम्भ की दो-चार कविताएँ शायद एकदम अपका-वस्था में लिखी गयी थीं, इसलिए उनमें हिन्दी की अर्थहीन कविताओं के “छायावादी महाकवियों” की छाया स्पष्ट रूप में पायी जाती है। पर पीछे की कविताओं में लेखिका का अपनापन, उसकी निगूढ़ भावुक अन्तरात्मा से निःसृत अपूर्व अकलंक शुभ्रफेनोच्छ्वसित निर्भर-धारा ही प्रवाहित हुई है। सुन्दर छन्दों की विचित्रता तथा झकार से इस धारा की महिमा और भी बढ़ गयी है। कविताओं से पता चलता है कि लेखिका ने अपने प्रत्येक भावोच्छ्वास को अपने हृदय में भली भाँति अनुभूत करके फिर उसे व्यक्त किया है। इसी कारण उनकी “अन्तर्वेदना सीधी मर्म में आकर तीव्रता से आघात करती है।”

एक अन्य सज्जन का कथन है:—

“इन कविताओं की लेखिका के हृदय में तो बहुत कुछ है; परन्तु हृदय के उन भावों का प्रकाशन उस अनुपात में नहीं हो सका है। इसका परिणाम यह हुआ है कि इन कविताओं में विवक्षा का भाव बहुत अधिक आ गया है। एक दृष्टि से इस तथ्य ने उस वाला-कवयित्री की कविताओं की कीमत और भी अधिक बढ़ा दी है”।

इस दिवंगता देवी का प्रकृति के प्रति अनन्य अनुराग उसकी

कविता में भी भूलक पड़ा है । निम्नलिखित पंक्तियाँ इसकी साक्षी हैं:—

[१]

निर्भर

सदा दग-जल से रोता विरव, हृदय तुम देते धपना चीर ।
कहाँ पाओगे प्रेम-अनन्त, बहाकर अपना मानस-नीर ॥
खींचकर स्वर-लहरी के बीच, वेदना के सूने उद्गार ।
निरन्तर देते हो सन्देश, नहीं पाते हो फिर भी प्यार ॥
हृदय करता है हाहाकार, किन्तु रहता है मुख अम्लान ।
प्रेम-पथ करते हो निष्कारट, धामकर आँखों का तूकान ॥
व्यथित मानस-पल्लव के बीच, जभी किन्नमिल करती है चाह ।
खींचकर उच्छ्वासों को आड़, रोक लेते थे धीमी आह ॥
साधना में प्राणों को छोड़, कभी पाओगे स्नेह-अनन्य ।
मौन जब निकलेगा संगीत, मुग्ध वे घड़ियाँ होंगी धन्य ॥

[२]

मीठा जल बरसानेवाले

मील वर्ष की चादर ढाले घुमड़-घुमड़कर आनेवाले ।
नगर, गाँव, गिरि-गह्वर, कानन निज सन्देश सुनानेवाले ॥
तूने देखा सभी ज़माना, पहला गौरव भी था जाना ।
वर्तमान तूने पहचाना, लुटा चुके हम सभी खज़ाना ॥
दिन छोटे आये जब अपने, सुखद दिनों के लेते सपने ।
साहस बल सब कुछ खोकर हम स्वार्थ-माल ले बैठे जपने ॥

ऐसा अमृत-जल बरसा दे, तस दिलों की प्यास बुझा दे ।
 धीरों का संदेश सुना दे, हमको निज कर्तव्य सुझा दे ॥
 हे स्वच्छन्द विचरनेवाले, हे स्वातन्त्र्य-मुधारसवाले ।
 हमको भी स्वाधीन बना दे, मीठा जल बरसानेवाले ॥

[३]

पतझड़

इन पंखों में तड़प उठा है यह मेरा मृदुहास
 खिलकर भी इसमें पाया है भीना-भीना हास ॥
 बाल-सुलभ-चञ्चलता खेली पंखड़ियों पर प्यार ।
 कितने ही वसन्त मुझाये यह विधु-वदन निहार ॥



नययौवन का मद मतवाला फिर-फिर बजते तार ।
 इस तन पर निसार होता था अलि का जीवन-सार ॥
 वह परिहास हास, जिसमें था-पाया पूर्ण विकास ।
 समझ न सकती थी मैं इसमें भी है छोटा विनास ॥



ऊँची डाली पर देखा था यह विस्तृत संसार ।
 अथ चिति के उजड़े दिल में है खोजा इसका चार ॥
 खुले हुए थे जग भर के हिय में यी ठनका द्वार ।
 किन्तु शेष है अथ तो केवल पौरुष, पाद-प्रहार ॥

आह ! याद करके क्या होगा अपना गत संगीत ।
भूल जायँ विस्मृतियों में ही मेरे राग-पुनीत ॥
सुनी अनसुनी करदो, मेरी नीरस-करुण-पुकार, ।
जाती हूँ वेदना भरे मन से अनन्त के द्वार ॥

[४]

सरिता के प्रति

सजनि ! यहाँ से यही आरहीं, चलों किधर, किस ओर ।
किसके लिये मची है हिय में, यह व्याकुलता घोर ॥
अगणित हृदयों में छेदी है मूक व्यथा अनजान ।
कितने ही सनेपन का, कर डाला है अवसान ॥
विधा प्रकृति का अञ्चल सुन्दर तेरा स्वागत सार ।
चूम-चूमकरं घृष्ट भूमते ले-ले निज उपहार ॥
सतत तुम्हारे मन-रञ्जन को विहाग करें कल्लोल ।
तुम्हें हँसाने को ही निशिदिन बोलें मीठे बोल ॥
भुमते जाते धीरे-धीरे नक्षत्रों के दीपक ।
स्नेह-शून्य होकर के मानो दिखलाते-से हैं पथ ॥
नौरस कुञ्ज दुःख मुखरित सुन सब निनाद-गम्भीर ।
मतवाले प्यासे पो तुमको होते अधिक अधीर ॥
कितने निर्भर दिखा चुके हैं तुमको निज हिय-चीर ।
किन्तु न भरता उनसे तेरा शोक उद्धि गम्भीर ॥
किसके हित सकरुण विहाग सम अविश्रान्त यह रोदन ।
नीरस प्रान्तों में बखरेतो क्यों अपना भीगा मन ॥

क्या आगे बढ़कर पाओगे अपने चिर-आराध्य ।
चलो, चलें, तब मिलकर सजनी मिटे हृदय की साथ ॥

[५]

दलित कलिका

मुझे देखकर सदे हँस रहे, विकसित सुन्दर फूल ।
फरते हो परिहास हास, तरु शाखाओं पर झूल ॥
हाय-भाव से अपने जग को देते सरस सुवास ।
मुझे देत गर्वित हो फरते किन्तु, घ्यंग उपवास ॥
यदपि धूलि-धूसिता बनी मैं—हूँ सौन्दर्य-विहीन ।
भूमि-शायिनी, पदाम्कान्त हो हुई कान्ति शुति-हीन ॥
नय जीवन का उपः फल था कुसुमित यौवन-उपवन ।
रस-लोषुष मधुकरदल करता था सहर्ष आलिंगन ॥
विशद नील नभ से करती थी चन्द्र-सुधा-रस-पान ।
मन्द अनिल से आन्दोलित हो, गाती नीरव गान ॥
गर्व, दर्प सब खरब हुआ अब, गिरी, हुई इत-मान ।
करुणा-मन्दन है केवल अब होने तक अवसान ॥
हो गर्वित, उन्मत्त विटप पर झूम रहे हो फूल ।
मुझे देख फूले हो, जाना निज अस्तित्व न झूल ॥

प्रकृति में मानव व्यक्तित्व का आरोप करने की प्रवृत्ति पुरुष-
र्यवती में भी देख पड़ती है, किन्तु वह अत्यंत संयत मात्रा में है।

श्रीमत्तो पुरुषार्थवतो देवी ने नायिका के भी बहुत सुन्दर चित्र अंकित किये हैं । निम्नलिखित दो कविताएँ पाठक देखें:—

[१]

प्रतीक्षा

१. ओह ! विदा माँगने आई यह चीथ हुई उजियाली ।
 २. मैं व्यस्त हो ठठी छय तो लम्पकर परिचम की लाली ॥
 ३. आशा की लहरें ठगकर यह घुना—सा घन्धेरा ।
 ४. रो छठती दूर चितित्र पर रुकता-सा हुआ बसेरा ॥
 ५. हम नहीं मानते फिर भी इस नैराश्य को, आखिर ।
 ६. जा-जाकर फिर आ रुकते उस पार वहीं होकर स्थिर ॥
 ७. कैसे झुलझाऊँ मन को ? निष्प्राण नेत्र हैं चार्हे ।
 ८. उलझाती ही जाती हैं, यह भीगी-भीगी आर्हे ॥
 ९. इस पीड़ा में भो क्रीड़ा-कौतुक की अद्भुत खेलें ।
 १०. अब नहीं सँभाले जाते उद्देश्य-विहीन कमेले ॥
 ११. कब से पैठी फरती हूँ प्रार्थों से सजल प्रतीक्षा ।
 १२. ना-बो ! बस दे न सकूँगी निर्भम ! अब अधिक परोक्षा ॥

[२]

दर्शन-लालसा

नाथ ! पड़ा सूना मन-मन्दिर कब उसको अपनाओगे ।
 नेत्र थक गये, राह देखते कब तुम फिर से आओगे ॥

हैं, पगली मतवाली या मैं फिर भी हूँ चरणों की दास ।
 प्रेम-स्तरंग हिलोरें लेती आओ, एक बार फिर पास ॥
 मानस-सर के हंस तुम्हीं हो, हो मेरी तन्त्री के तार ।
 मेरी जीवन-नैया के हो कर्णधार, पकड़ो पतवार ॥
 देकर झूठे धैर्य नाथ ! अब नहीं मुझे उग पाओगे ।
 देर करोगे तो क्या होगा, शून्य कुटी को पाओगे ॥
 श्रीमती पुरुषार्थवती में अपने देश के प्रति भी ममता थी ।
 उनकी निम्न-लिखित कविताओं में उनका देशानुराग छलक रहा है—

[१]

वीर सन्देश

उठो, उठो, साहस से वीरो, मत मन में भय खाओ ।
 धीर वेष से सज्जित होकर, रण-प्राङ्गण में जाओ ॥
 प्रलयंकर संगीत समर की स्वर-झहरी में गाओ ।
 फरष्ट शुचि करवाल, अलंकृत होकर, फाग मचाओ ॥
 शौर्य-तेज से अपने जग में, विजय-ध्वंजा फहराओ ।
 दुर्बल-दिल में साहस भर दो तारद्वय नृत्य मचाओ ॥
 सुप्त विश्व को जागृत कर शुचि वीर सन्देश सुनाओ ।

[२]

हे माँ !

भारत-जननी ! ऐसा चर दे ।

थपड़ी देकर, चूम-चूमकर, रोम-रोम में साहस भर दे ॥
 ज्ञान-द्रव्य निज पिला-पिलाकर, अंग-अंग साँचे में ढल दे ।

लोरी देकर स्वाभिमान की, निज रचय-हित तत्पर कर-दि ॥
 प्रेम-मयी शिवाएँ देकर रणचण्डी-सा हिय में बल-दे ।
 दाल धर्म को सँग में देकर, नेह वर्म से सज्जित कर-दे ॥
 दुष्ट-दलन, खल-दमन करें माँ, शक्ति-शालिनी ! ऐसा घर दे ॥

[३]

देशभक्ति का राग

छेड़ दो एक बार फिर तान ।

सुन्दर, सुखद, सरस, शुचि, सुसुधुर देश-भक्ति की तान ॥
 निर्जीवी जीवित हों जिससे, निर्बल हों बलवान ॥
 ऊँच-नीच का मेद मिटाकर होवें सकल समान ।
 ग्रन्थित होकर एक सूत्र में, समझें निज कल्याण ॥
 यही चाह हो, यही ध्येय हो, मातृ-भूमि-सम्मान ॥
 देश-वेदि पर कर दो मिलकर, तन मन अपण्य प्राण ॥
 कष्ट-फलेश का भारत के हो जाने पर अवसान ॥

तभी होगा भारत-उत्थान ॥

इस देवी के व्यक्तित्व की उच्चता का अनुमान निम्नलिखित मार्मिक पंक्तियों से हो सकता है । वह सरलता और सत्य की ओर कितना उन्मुख था, देखिए—

हो सुन्दर, सुरमित उपवन, जग को मोहित करता हो ।

पर मेरा सुखा पतझड़ ही मुझको रम्य बना हो ॥

सजित गृह-द्वार खड़े हों, करते हों नभ का चुंबन ।
 अपनी सुखी कुटिया में मेरा ही ध्यान लगा हो ॥
 सहता हो सुखद समीरण, संचारक प्राण जगत् का ।
 पर मेरी जीवन-लड़ियाँ उसमें भी उलझ रही हों ॥
 विशदोगन में पृथ्वी के क्रीड़ा करते हों प्राणी ।
 पर मेरा स्थान कहाँ है, यह कोई जान न पावे ॥
 उपमेय न हो कोई भी, उपमान न कोई मेरा ।
 मैं भी 'निज' पता न पाऊँ तब जग कैसे पहचाने ॥

अल्प वय ही में इस सहृदय कवयित्री के हृदय में उन प्रश्नों का उठना आरम्भ हो गया था जो किसी भी प्रतिभाशाली व्यक्तित्व की महत्ता के सूचक होते हैं:—

सांख्य-गगन की ललित-लालिमा, विहर-चुन्द का फलरूप गान ।
 शीत, मन्द, शुचि, मलय-प्रभंजन किसकी अहो दिलाते याद ॥
 बाल-सूर्य की किरण-राशियाँ उषा सुन्दरी का नट-वेष ।
 अपल-सरित की अविरत कलरव देते क्या अतीत सन्देश ॥
 निशाकाल का नीरव गायन सुप्त-विरव की मुद्रा मौन ।
 चन्द्र देव की मृदुल-रश्मियाँ क्या कह देती हैं—मैं मौन ?
 व्यथित हृदय-तन्त्री झंकृतका धौन अहो गाता है गान ।
 किस अतीत की याद दिलाकर बेसुध कर देता, अनजान ॥

'श्रीमती पुरुषार्थवतीदेवी की कतिपय पंक्तियों से ऐसी छवि निकलती है मानो लेखिका ने अपने जीवन के निरुद्ध अवसान का

संकेत पा लिया हो। जो हो, वे विचित्र रूप से स्वयं उन्हीं के जीवन पर घटित होती हैं। वे 'जीवन-नौका' शीर्षक अपनी कविता में कहती हैं:—

पथ अज्ञात, फठिन; जीवन-नौका डगमग हो जाती थी।
 विरल-सरित की चपल तरंगों में झूयी-उत्तराती थी ॥
 कभी निराशा की छाया निज अंचल से ढक लेती थी।
 अधु-भाल इस दग्ध हृदय का बलेश-साप हर लेती थी ॥
 दुलिया की इस दीन दशा पर, चन्द्र देव मुसकाते थे।
 नम-मंडल से लुये सुधाकर भी यत्नि-यत्नि हो जाते थे ॥ १ ॥
 तब भी इस मुसकाये मन में आश-लहर लहराती थी।
 भायों की मंजुल आभा बस चीथ प्रकाश दिखाती थी ॥ २ ॥
 अनिल-झरोखों से तम में यह झिलमिल ज्योति बिलीन हुई।
 मेरी जीवन-नैया भी उस अंतराल में लीन हुई ॥ ३ ॥



राजराजेश्वरी देवी 'नलिनी' ❀

कुमारी राजराजेश्वरी देवी 'नलिनी' एक उच्च ब्राह्मण-कुल की कन्या-रत्न हैं। आप के पिता श्रीयुत् पंडित रामशंकरप्रसाद धी० ए० सुशिक्षित और सुविचारशील सज्जन हैं। आजकल आप मिथिला (सीतापुर) में सहसीलदार के पद पर प्रतिष्ठत हैं। जिला उन्नाव में आपका निवास-स्थान है।

राजराजेश्वरीजी की कविता में माधुर्य और सरसता है। कवि-प्रतिभा की वे कृपा-पात्री हैं, इसमें सन्देह नहीं। आशा है, निकट भविष्य में उनकी रचनाओं में यद्येष्ट मात्रा में कलात्मकता, परिमार्जन आदि का समावेश होगा।

राजराजेश्वरीजी की निम्नलिखित कविताओं में नारी-हृदय के सौन्दर्य की मनोहर अभिव्यक्ति हुई है:—



श्रीराजराजेश्वरी देवी “नलिनी”

[१]

साध मिटाने दो !

आँसु की तरल तरंगों में आहों के कण वह जाने दो ।
 उस शुद्ध अश्रु की धारा में उच्छ्वास-तरंगि लहराने दो ॥
 जया की रक्तिम आभा से लोचन रञ्जित हो जाने दो ।
 अन्तर्द्वीपा को व्याधा-भरो बस करुण रागिणी गाने दो ॥
 सुनती पीड़ा में व्यास प्रभो ! मुझको पीड़ा अपनाने दो ।
 निज प्राण-विभव से मुझे देव ! निज चरण अलंकृत करने दो ॥
 पीड़ा से कर के चार मुझे अपने ही में मिल जाने दो ।
 वैसे तुमको पाना दुष्कर ऐसे ही तो फिर पाने दो ॥
 तुम बनो देव आराध्य मेरे, निर्माल्य मुझे बन जाने दो ।
 निज चरणों के ढिग आने दो ! मुझको निज साध मिटाने दो ॥

[२]

कामना

मम मन-मन्दिर में एक बार, पस एक बार ही तुम आते ।
 इस दुखिया की, इस दीना की, साधन सफल तुम कर जाते ॥
 बिठला करके हृदयासन पर, अंतर्पट शीघ्र खगा देती ।
 तेरे अभिनन्दन में प्रियतम जीवन निधियाँ बिखरा देती ॥



मम श्रुति-द्वारों को एक बार, तुम दर्शन-सुधा पिला जाते ।
 इस दुखिया की, इस व्यथिता की, सफला साधना बना जाते ॥

अभिप्रेक तुम्हारा कर देती, तुमको ही मान इष्ट । ईश्वर ।
अस्फुट भाषा बनकर मञ्जुल मृदु कुसुम, बिखर जाती तुम पर ॥



मेरे आसूँ बन नेह-नीर, करते पद-पंकज प्रचालन ।
जीवन-वीणा पर तेरा ही अनुराग-राग करती गायन ॥
मम प्राणों के कण-कण भगवन् ! तुम में विलीन बस होजाते ।
आहें बन जातीं प्रेम-भवन, वेदना मधुमयी मंजु-लहर ॥



मञ्जुल लहरी से हो जाता मधुसिक्त मृदुल मम अभ्यन्तर ।
पीड़ा बन जाती वीणा-स्वर, गाती स्यागत के गान मधुर ॥
उच्छ्वास प्रणय-सन्देश सुना प्रमुदित करते तुमको प्रभुवर ।
तब हृदय-मंच पर मंजु प्रणय के नये प्रेम-अभिनय होते ॥



मम-कलित-कल्पनाकलिकाका, तुमको लखकर विकास होता ।
आशाओं की होती सुमूर्ति, अभिलाषा का विलास होता ॥
हँस उठते मेरे शुष्कग्रधर, उल्लासों की क्रीड़ा होती ।
मम-हृदय व्यथा भी मिट जाती, यदि हृदय-देव को पा जाती ॥



‘नलिनी’ निज नयन बिछा देती, तब-पय में यदि था तुम जाते ।
तन मन सर्वस्व समर्पण कर, मम प्राण तुम्हीं में रम जाते ॥

[३]

वेदने !

(१)

अभ्यन्तर के निभृत प्रान्त में, प्राणों की सरिता के कूल ।
खूब वेदने माल ! खेल, नयनों से बिखरा आँसू-मूल ॥

(२)

आज हमारे प्रणय-जगत् में, सजनि तुम्हारा है आह्वान ।
है आराध्य-अभाव यहाँ तू, आ अभाव की मूर्ति महान ॥

(३)

मृदुल हृदय परिभ्रमण पर तू, कर सहर्ष हे सजनि विहार ।
जीवन के उजड़े निकुंज में, भर दे निज वैभव का भार ॥

(४)

धरी ! चयन कर जो अंचल में, सुभग साधना-कुसुम पराग !
चपल चरण से कुचल मसल कर, गा तू अपना तीखा राग ॥

[५]

हार

कुसुमों के कमनीय कलित कुंजों के कुसुम चयनकर नाथ ।
‘मृदुल माल एक रुचिर बनायो रच-रचकर निज कम्पित हाथ ॥
‘पूजा का कुछ साज नहीं है देव ! आह ! दुस्त्रिया के ‘पास ।
किन्तु हार, में संचित है मम सरल स्नेह की सरस सुवास ॥
‘इस अनुराग-माल में गुम्फित है मेरा जीवन सुकुमार ।
आओ ! देव ! पिन्हादे ‘नलिनी’ पा जावे जीवन का सार ॥

[५]

जीवन-इतिहास

हृदय-देश के सुन्दर सनेपन को आह मत लुटाओ ।
 अपनी वाणी का मृदु वैभव निदुर ! यहाँ मत बिखराओ ॥
 नीरवता की गोदी में पीड़ाएँ सुख से सोती हैं ।
 बिलर गये नयनों की मंजूषा के सारे मोती हैं ॥
 सुखद शान्ति साधन यह मेरी मौन-समाधि न भंग करो ।
 उवाला उवलित न करो पुरानी सोपी में मुक्ता न भरो ॥

×

×

×

आह ! पदों मत पड़ न सफोगे यह विस्तृत सकल इतिहास ।
 लघु जीवन के प्रण-धर्णन लूटे सुख का धुँधला आभास ॥
 कहीं न पृष्ठों के निनाद से सुप्त न्यथाएँ जग जायें ।
 सुभग शान्ति-नन्दन कानन में आह न शोले बरसायें ॥
 कहीं न मुखरित आह हो उठे फिर वह नीरव हाहाकार ।
 तदप न उठे भग्न उर फिर से विफल न होवे यह अभिसार ॥

×

×

×

नहीं छलकता है मधु उससे नहीं मुसकानों का इतिहास ।
 नहीं हास्य-गाथा उसके सुनने का करो न विफल प्रयास ॥
 विस्मृति की मादक मदिरा भी मुझे मौन बस रहने दो ।
 जीवन-निर्भर को अनंत की ओर शीघ्र शय्य यहने दो ॥

छोटे से जीवन की विस्तृत गाथा प्रकट न होने दो ।
विभूति के घन अन्धकार में मूर्छित होकर सोने दो ॥

× × ×

[६]

ललित-लालसा

आशा की सूनी कुटीर में यह नैराश्यों का अधिवास ।
उर-उपवन में बिखर रहा है पीड़ाओं का मृदु मधुमास ॥
आह ! खो गई व्यथित हृदय की चिर संचित मृदु आकुल आस ।
आज रोरही रजकण में मिल आह ! विकल प्राणों की प्यास ॥

× × ×

जीवन की अवशेष घड़ी में देव ! दया कर आजाना ।
अपने कल्याण के अंचल से कल्याणकण बिखेर जाना ॥
प्रिय ! मेरी आशा-समाधि पर दो आँसु डुलका जाना ।
तृपित मूक प्राणों की पागल प्रवला प्यास मिटा जाना ॥

[७]

कुसुमाकर !

मानस-मधुवन में आया है सज्जन ! आज वेदना-वसंत ।
विपुल न्यथा की सकल्य सुपमा छाव रही है आज अनंत ॥
कल्याण-कोकिल सुना रही है अपना विह्वल विकल विहाग-तंत ।
नयन-फली की मृदु प्याली में भरा हुआ है अश्रु-पराग ॥

चलता है उच्छ्वास-मलय नैराश्यों की सौरभ के साथ ।
 डुलका रहा विषाद हृदय की हाला भर-भर दोनों हाथ ॥
 अन्तर के छाले पलाश वन-सम शोभित हैं अरुण अपार ।
 व्याप्त होरहा है मधुमय पीड़ाओं के वैभव का भार ॥



कितना सुन्दर कुसुमाकर का विरह-कुंज में आजाना ।
 पर कितना मादक मेरे मधुवन में उसका मुसकाना ॥

[८]

अनुरोध !

मलयज-शीतलता भार लिये, नव-कलिका सा मृदु प्यार लिये ।
 मम आशा की मधुमय कलियाँ बनकर बसंत विकसा जाना ॥
 बासंती सी मृदु सुपमा ले पुष्पों सी मधु लाक्षिमा लिये ।
 मम सुखे जीवन उपवन में मधु-सीकर बन के बरस जाना ॥



शुचि सरस सुकोमल भावों की, कालिन्दी कलित कलोलमयी—
 धनकर मेरे कल्पना-देश में, देव ! प्रवाहित हो जाना ।
 नव वीणा की मंकार लिये, मृदु अतीत गौरव-गान लिये—
 वह भूला मोहक मधुर गान, यन जीवन-सार सुना जाना ॥



शुचि स्वर्ण स्वप्न का विभव लिये सुख का अक्षय आभास लिये—
 मेरी धलसाईं पलकों पर तुम चिरनिद्रा यन आजाना ।

स्वर्गिक अनन्त सौन्दर्य लिये, क्रीड़ा का हास-विलास लिये—
कोमल अलसित-सुपमा-लज्जित-निज मंजु रूप दिखला जाना ॥



घरदानों का उपहार लिये, आशीष-सुधा की धार लिये—
मेरे हृद्-मंदिर में आकर आराध्य ! सुशोभित हो जाना ।
मुसकानों का संसार लिये, आनन्दमयी मंकार लिये—
पीड़ा से पागल प्राणों को, प्रिय ! आकर आह हँसा जाना ॥



कमनीय कलित सुविकाश लिये, ऊषा-सा अरुण प्रकाश लिये—
घनकर सुप्रभा-सौभाग्य सूर्य 'नलिनी' का हृदय खिला जाना ।

इस सहृदय कवयित्री ने नारी-हृदय के आराध्य-देव की भी
बहुत सुन्दर मूर्तियाँ अंकित की हैं । पाठक नीचे की कविताओं
में इन्हें देखेंगे:—

[१]

मधुर मिलन

गोधूली के अंचल में, छिप गयी सुनहली ऊषा ।
दिनकर चल दिये विदा हो, खुल गयी गगन-मंजूषा ॥



सूने अम्बर पर बिखरीं निशि की विभूतियाँ सारी ।
राका-राकेश-मिलन की आयी यी मधुमय वारी ॥

मुसकाती इठलाती-सी कामिनी विभावरी आयी ।

जग-शिशु मुख पर उसने निज अलकावलियाँ बिखरायीं ॥

❀

❀

❀

बहू, सुनेपन की रानी सुनापन लेकर आयी ।

सारी संसृति में उसकी मुसकान मनोहर छापी ॥

❀

❀

❀

निज वैभव पर गर्वित हो हँसती थी रजनी-बाला ।

आये फिर कर में लेकर निशिनाथ सुधा का प्याला ॥

❀

❀

❀

सारी संसृति में शशि ने स्वर्गीय सुधा डलकापी ।

घड़ुँ ओर असीम अलौकिक अनुपम मादकता छापी ॥

❀

❀

❀

करता था जग अघगाहन शशि-सुधासुभग खहरों में ।

डल्लास असीम भरा उन आह्लादों के प्रहरों में ॥

❀

❀

❀

गाती निशि निज बीणा पर नीरव संगीत बिराला ।

ध्रुति-पुट में रस सरसा बहू जग को करता मतवाला ॥

❀

❀

❀

मेरा हिय उलझ रहा था उद्गारों की उलझन में ।

रह-रह पीछा दोती थी अभिलाषा के कंपन में ॥

आशाओं के फूलों की बिखरी पंखड़ियाँ प्यारी ।

उच्छ्वासों के झोंकों में उड़ गयी आह ! वह सारी ॥

❀

❀

❀

म्यथा सुपुसा करवैट से हो उठी प्राण में तद्वपन ।

प्राणों की पागल पीढ़ा से हुआ आह ! मूर्ध्नि मन ॥

❀

❀

❀

तब शान्तिमयी निद्रामग्न गीली पलकों पर छायी ।

इस करुण दशा पर मानों उसको थी करुणा आयी ॥

❀

❀

❀

दे शान्ति मुझे उसने यों स्वप्नों के साज सजाये ।

मेरी आशाओं के धन मुझको उसने दिखलाये ॥

❀

❀

❀

निशि की काली अलकों में जो रयामल वेष बिपाये—

वह करुणामय थे मेरे मृदु स्वप्न-जगत् में आये ।

❀

❀

❀

सुख सीमा हुई अपरिमित देखा जब प्रिय मानस-धन ।

कृतकृत्य होगयी करके करुणामय का शुभ दर्शन ॥

❀

❀

❀

उपमा क्या हो सकती है कोई मेरे उस सुख की ।

असमर्थ जिसे कहने में हो जाता है सकृदि भी ॥

उन पद पथों में तत्क्षण निज मानस पुष्प चढ़ाया ।
 धनकर उपासिका स्वयमपि उनको आराध्य बनाया ॥

❀

❀

❀

उस रण-सुख में जीवन का सारा उल्लास खिजा था ।
 उल्लासों के अंचल में पीड़ा का सार छिपा था ॥

❀

❀

❀

ऊपा के अघगुठन में छिप गया सुनहला सपना ।
 मेरे सुलकी लाली ले शृंगार किया हा अपना ॥

[२]

आशंका

हृदय-अंचल में रक्ता भूँद, उमड़ते भावों का तूफान ।
 नयन की मृदु कनीनिषा मध्य, छिपा चाँसू का करुण उपान ॥
 साधना का अघगुठन डाल, मौन के आसव का कर पान ।
 मिटाने को जीवन-अभिशाप, निभृत में किया शांति आह्वान ॥
 छेड़ना यहाँ न विस्मृत गीत, खोजना मत खोया अनुराग ।
 भंग मत करना मौन समाधि, कहीं छुट जाय न मधुर विराग ॥
 हृदय-प्याले से छलक न जाय, कहीं वह आसव-चिर-उन्माद ।
 कहीं पाकर सुस्मृति-आभास, जग उठे आह न सुस विषाद ॥

[३]

अज्ञात !

किसने जीवन-प्याली में करुणा का आसव ढाला ।
 किसने था मुझे विलाया पागल पीड़ा का प्याला ॥

किसने चन्तवीणा के मृदु तारों को बिखराया ।
 किसने मेरा मौक्तिकमय नयनों का कोप लुटाया ॥
 किसने मुझको सिखलाया उच्छ्वास-वितान बनाना ।
 बाणी-बीणा पर सफरुण आहों के गाने गाना ॥
 किसने विपाद बिखराया है मेरे हृदय-सदन में ।
 कराती क्यों निपट निराशा भर्तन आशा-मधुवन में ॥



किसने अनंत पीड़ा का उपहार धनूप दिया है ।
 भ्रष्टा कौन वह ! जिसने वह निष्ठुर खेल किया है ॥

(४)

प्रतीक्षा

कब से इस सूने पथ पर, बैठी हूँ नयन बिछाये ।
 निष्ठुर बनमाली ! तेरे घरों में ध्यान लगाये ॥
 तेरे स्वागत-हित, उर में, आशा का दीप जलाये ।
 उल्लसक हो, गिनती घड़ियाँ, पूजा का साज सजाये ॥
 तो भी उस मधुर मिलन की, आती न भवधि वह प्यारी ।
 जिसमें चित्रित है मेरी, नव सतत साधना सारी ॥
 उल्लस-तपन उपजाती, है आकुलता की घड़ियाँ ।
 भ्रमल-कमल-दल से हैं, दृष्टी प्राणों की लड़ियाँ ॥
 कल्याण-सागर में बिम्बित, तेरा प्रतिबिम्ब मनोहर ।
 लहराता-सा हँसता, शरदिन्दु व्यथा बिखराकर ॥

अमृत भी निर्मल सरिता, है एक ओर सरसाती ।
 फिर भी प्रणयी को क्यों कर, विरहानल है झुलसाती ॥
 उठतों नैराश्य हिलोरें, "क्या नाथ न थक पावेंगे ?
 क्या विश्व-विमोहन वंशो-स्वर श्रवण न सुन पावेंगे ॥
 ऐसी निष्ठुरता, निर्मम ! करना क्या तुम्हें उचित है ।
 'दुखियों को और दुखाना' ऐसा भी क्या समुचित है ?

राजराजेश्वरी देवी के हृदय के एक कोने में देश की वेदना
 के प्रति अपार सहानुभूति का भी निवास है । वे उसके गौरव का
 ध्यान कर स्वाभिमानपूर्वक गाती हैं:—

जय शस्य श्यामले जन्मभूमि ।
 जय वीर प्रसविनी मातृभूमि ॥
 हिम शैल सुभग तेरा किरीट, मृदु मंजु वसन दूर्वा इरीट ।
 सुरसरि की पावन धवल ऊर्मि, लेती है तब श्रीचरण चूमि ॥
 करता सुधांशु अमृतवर्षण, धोता रसाकर चारु चरण ।
 करता है आलोकित दिनकर, करते सब सुरभित पुष्प निकर ॥
 तेरी महिमा है अद्वितीय, गौरव गरिमा है अकवनीय ।
 जय जयति जयति हे दिव्य भूमि, जय जय जग पावन वीर भूमि ॥
 तेरी सुपमा है अनुपमेय है प्राप्त तुम्हें उच्चता श्रेय ॥
 जय कला-पुंज हे सौख्य-भूमि ।
 जय वीरवरों की कर्म-भूमि ॥

उनकी आकांक्षा है कि—

मा के मृदुल चरण-कमलों में, अर्पण कर दूँ जीवन-फूल ।
सदा चढ़ाऊँ निज मस्तक पर, माँ के पद-पद्मों की धूल ॥
नित्य रहे उसका ही चिंतन, करूँ सतत उसका सम्मान ।
सहूँ दुःखद आघात हर्ष से, कभी न विचलित होवें प्राण ॥



जननी-जन्मभूमि के हित में हो जाऊँ सहपै बलिदान ।
बनकर धीर बालिका में भी कर दूँ भारत का उत्थान ॥
धीशा की प्रतिष्ठा में मिलकर गाऊँ माँ का गौरव-गान ।
रहूँ मातृ-सेवा में तन्मय, चाहे संकट पड़े महान ॥



भारत के उपवन की कलियों में मिलकर मैं खिल जाऊँ ।
मातृभूमि-रत्न के कण-कण में हे भगवन् मैं मिल जाऊँ ॥
देश-प्रेम का भव्य भाव मेरे मन में विकसित होवे ।
मातृभूमि की भक्ति हृदय में मेरे नाथ ! उदित होवे ॥

राजराजेश्वरी देवी की 'दीपमालिका' भी सुन्दर है; उसके आलोक से हम अपने हृदय को आलोकित कर सकते हैं। वे कहती हैं:—

शीघ्र सँजो दो स्नेह-सिक्त मृदु प्रेम-प्रदीपावलियाँ ।
दीप्त हो उठे जग, आलोकित हों जीवन की गलियाँ ॥

धुल जावे विपाद-तम हो उल्लासों की रँगरँगियाँ ।

स्नेहाभा से प्रमान्विता हो खिलें हृदय की कलियाँ ॥

अन्तर्गृह में साधर शुचितम, स्नेह-प्रदीप सजा दो ।

उस स्वर्गिक-अभिनव प्रकाश से दिव्यालोक लगा दो ॥





श्रीमती तारा देवी पांडेय

तारादेवी पांडेय



जिन देवियों ने अभी हाल ही में काव्य-रचना प्रारम्भ करके ख्याति प्राप्त की है उनमें तारादेवी पांडेय का नाम आदरपूर्वक लिया जाता है। आप नैनीताल की निवासिनी हैं। पर्वत-प्रदेश के अनेक सुकवियों ने वर्तमान काल में यश और प्रतिष्ठा का अर्जन किया है। ऐसी दशा में यह आश्चर्य की बात होती, यदि वहाँ से हमें एक भी कवयित्री की उपलब्धि न होती। इस देवी से हमें भविष्य में तो बहुत कुछ आशा है, किन्तु इसका वर्तमान भी कम आकर्षक नहीं है।

तारादेवी में सौन्दर्य-भावना का मनोहर विकास देखा जाता है। उनकी निम्नलिखित पक्तियों में पाठक देखेंगे कि सौन्दर्य की विभिन्न कल्पनाओं में उन्होंने अपनी वास्तविक अमरी-वृत्ति का कैसा परिचय दिया है :—

(१)

जो कह न सकूँ मैं तुमसे, उसको चित्रित करदोगे ?
 ओ चित्रकार क्या मुझको, ऐसी छवि दिखला दोगे ?
 धिर वियोगिनी है आती, पथ पर मोती बरसाती ।
 तारों के दीप जलाती, कुछ रोती कुछ-कुछ गाती ॥
 उसके भीगे गालों को, तुम भी क्या देख सकेगे ?
 ओ चित्रकार, क्या मुझको, ऐसी छवि दिखला दोगे ?

❀

❀

❀

निर्जनता होवे मग मैं, बाला हो अस्थिर चंचल ।
 हो तेज हृदय की धड़कन, हिलता हो जिससे अंचल ॥
 कसना की उस चितवन को, पद पर अंकित कर दोगे ?
 ओ चित्रकार, क्या मुझको, ऐसी छवि दिखला दोगे ?

❀

❀

❀

तारों की ज्योति मलिन हो, प्राची नभ उज्ज्वल तर हो ।
 क्या सिन्दूर लगाती हो प्रातः मधुर सुखकर हो ॥
 इस शान्त दृश्य को पावन, कैसे बन्दी कर लोगे ?
 ओ चित्रकार, क्या मुझको, ऐसी छवि दिखला दोगे ?

❀

❀

❀

भोले-भाले से आँख, तारों की होड़ लगाते ।
 अपनी उस उज्ज्वलता का, भी दर्शन करवा जाते ॥

उसके रहस्यमय जीवन का, भेद मुझे कह दोगे ?
ओ चित्रकार क्या मुझको ऐसी छवि दिखला दोगे ?



फिर बहुत दूर पर धुँधली-सी, छाया एक दिखाना ।
वे प्रिय आते ही होंगे, ऐसा कुछ भाव बनाना ॥
उन बड़ी-बड़ी आँखों से, आँसू भी ढलका दोगे ?
ओ चित्रकार, क्या मुझको, ऐसी छवि दिखला दोगे ?



यस अन्तिम दृश्य बनाना, दोनों का मिलन दिखाना ।
उनकी मीठीसिसकी से, तुम कभी सिसक मठ जाना ॥
कदा सचमुच ऐसा सुन्दर, वह चित्र पूर्ण कर दोगे ?
ओ चित्रकार, क्या मुझको, ऐसी छवि दिखला दोगे ?

(१)

बिछ जाती जब नील गगन में, मेघों की आदर वाली ।
छिप जाती तब चण-भर ही में, तारों की मिलमिल वाली ॥
जाली फैला जाती नभ में, दिनकर की किरणें मोली ।
मानों बिखर पड़ी अंचल में, पूजा की अन्तिम रोली ॥
आसूँ की नूँदें गिरती जब, ले अपना संचित अनुराग
अंकित कर जाती कपोल पर, अपनी अन्तिम छवि के दाग

महापात्र का प्रदीप भी, पल भर ही में बुझ जाता ।

शीघ्र ज्योति में कोई चुपके, अंतिम सुपमा कह जाता ॥

अपनी सुकुमार सौन्दर्य-भावना के सहारे उन्होंने नारी सौन्दर्य के अनेक चित्र प्रस्तुत किये हैं । नीचे की कविताओं में पाठक उन्हें देखें:—

(१)

याचना

खड़ी भित्तारिन कब से द्वार !

माँग रही है मुखमय प्यार;

टूटा-फूटा मन का खप्पर,

हाथों में लेकर आयी ।

दे दो मुझको वह अमूल्य-धन,

बकी आस लेकर आयी,

आल बहा दो मधुमय धार;

लेने आयी केवल प्यार ।

जिसे देखकर हँसे चन्द्रमा—

ऐसा प्यार न मैं लूँगी,

घटता-बढ़ता देख उसे प्रभु,

कैसे जीवन रख लूँगी ।

तारों-सा क्लिप्त संसार;

मुझे चादिए ऐसा प्यार ।

कहीं पहेली-सा रहस्यमय—

बना न देना जीवन-सार;

पूर्ण स्वच्छ हो और निष्कपट,

देव ! हमारा भोजा प्यार;

बिना प्रेम के जीवन भार,

दे दो, दे दो अपना प्यार ।

(२)

तारे

नील गगन के शुचि प्राङ्गण में, मिलमिल क्यों करते नादान !

सुनते हो क्या धर-धर मन से, तुम मेरा सकल आह्वान ॥

काँपा करते हो या भय से, अपने मन में, हे सुकुमार !

करलें कहीं न नभ पर किञ्चित्, ये आँसू अपना अधिकार ॥

इधर-उधर बिखरा करते हैं, प्रिय भोले-भाले अनजान ।

मैं वसुन्धरा की गोदी में, हो जाते हैं अन्तर्धान ॥

तजो वृथा भय की आशङ्का, करो नहीं स्वयन्द विहार ।

नहीं पहुँच पावेंगे नभ तक, मेरे ये आँसू दो-चार ॥

(३)

सुनो

निर्भय रहने दो, मत छोड़ो इस वीणा के तार ।

किते सुनाओगे तुम इसकी सूनी-सी गंजार ॥

इसका मधुमय गान खोगया उसे दूँ लेने दो ।
विकल वेदना पर ऐ निष्ठुर ! मुझे खेत लेने दो ॥



सुनो सुनाऊँ तुम्हें आज इस वीणा का इतिहास ।
किन्तु प्रतिज्ञा करो, अन्त में मत करना उपहास ॥
उपहासों के झोंकों में होती है भीषण ज्वाल ।
जला डालती है मेरे भावों की कोमल डाल ॥



रजनी देती थी जब अपना क्लिप्तमिल बख़ पसार ।
हँसती थी तारक-बालाएँ भोला प्रेम निहार ॥
छाँखें देती थी उस पर अपना भी सब कुछ चार ।
उसी समय वीणा गाती थी मुग्ध गीत दो-चार ॥



यही साज था, और अनोखे जीवन की थी चाह ।
नई उमंगें थीं सब मन में नूतन था उरसाह ॥
हाय, अधानक वीणा टूटी, मिला शून्य में राग ।
भोला जीवन शेष रह गया, करने को अनुराग ॥



अभिलाषा है सुनने की तो और सुनो एक बार ।
पगो हुए हैं हम पर बिजने ही आहों के तार ॥

उन तारों पर गाया करती हूँ मैं नीरव गान ।
महीं जानती कब होगा इन गीतों का ध्वंसान ॥

(५)

बचपन की भलक

इन मिलमिल से 'तारों' की,
जो प्रथम भलक है दिखती ।

यस उसी समय में केवल,
शैशव की गाथा लिखती ॥

जब भव्य ज्योति शिशु शशि की,
कलियों का शुभन करती ।

उनकी उस मुस्काहट में,
शिशुओं की हँसी खमकती ॥

प्रिय इन्द्र-धनुष की तो हाँ,
मैं मधुर-मधुर छवि बखती ।

अपने 'लोवे' बचपन का,
'प्य-भर दर्शन' हूँ करती ॥

ये छोटी-छोटी चिड़ियाँ,
'उड़-उड़कर' गाना गाती ।

मैं उसमें भी अपनी 'ही',
'शैशव' की गान मिलाती ॥

धिर मुद्गिन-विन्दु शिशु बुलें को,

कोमल सिसकी सुन पाती ।
 मुझको अपने बचपन की,
 वह मीठी याद दिलाती ॥
 उस बाल्यकाल की स्मृतियाँ,
 सुधि सी हैं छाई जाती ।
 मैं बहुत खोजने पर भी,
 बस एक झलक ही पाती ॥

(९)

मैं भूली

मैंने पंथ न पहचाना ।
 सखि, जाके धुँधले प्रकाश में अपना ही संघ जाना,
 प्रभु को भूखी, कर्तव्य भूली,
 बुद्धि विवेक सभी मैं भूली ।

माया मोह नहीं एक भूखी,
 बन्धन ही मैं फूँजी ।

मैं हूँ कौन ? कहाँ से आई ?
 इस पर मैंने नहीं विचारा ।

मूठे जग में केवल अपना,
 ममता का ही पार पतारा ।

यह मेरा है, यह मेरा है,
 इस भ्रम में ही अब तक फूँजी,

सच्चा पंथ बता दो आली,
अपने को भी जाती मूली ।

अपने मतवाले बनमाली के अन्वेषण में रत तारादेवीजी की नायिका कहती हैं :—

झिलमिल दीप जला तारों के, नभ में कर दी दीवाली;
उसी ज्योति में चली हूँ देने, भर के आँसू की थाली ।
छाया थी मधुवन की सुन्दर, हरी वृष की हरियाली;
मुग्ध दृष्टि से निरख रहा था, मतवाला हो बनमाली ।

❀

❀

❀

सोज रही थी वन उपवन में, हटा-इटाकर अँधियाली;
पूझ रही थी, भीरव मन से, धरे, बता दो उजियाली ।
हृदय टटोला, देखा क्या, हा ! चीन्हा थी पर तार नहीं;
मँडराया था राग, किन्तु अब, पहली-सी झनकार नहीं ।

❀

❀

❀

विष हृदय-तंत्री को लेकर, मैं सुने पथ पर आपी;
देखा संस्मृति चितवन से तब, उदासीनता है छापी ।
सुने-पथ में विषर रही हूँ, बूँद रही असीत की धूल;
उस अतीत की सुमधुर स्मृति में, कँटि भी लगते हैं फूल ।

प्रियतम के प्रति इस नायिका के जो उद्गार तारादेवीजी की लेखनी द्वारा व्यक्त हुए हैं उनमें मार्मिकता है । पाठक इन भावों का रसाम्नादन करें :—

‘उनके’ ही चरणों में रहकर उनकी ही कहलाऊँगी ।

‘उनके’ प्रति जो प्रेम-भाव है उसको मैं दरसाऊँगी ॥

‘उनके’ पूजन की भी विधि मैं अपने आप बनाऊँगी ।

अपनी पल्ल हतंत्री के मैं तारों को झनकाऊँगी ॥



अपने ही मन-मानस से मैं प्रेम-सलिल भर लाऊँगी ।

गंगा-जमुना नीर बिना ही अर्घ्य अमोक्ष सजाऊँगी ॥

हृदय-कुंज के सुन्दर सुरभति भाव कुसुम चुन लाऊँगी ।

बड़े प्रेम से ‘उन्हें’ चढ़ाकर अपना प्रेम निभाऊँगी ॥



द्रव्य-भेंट के बदले तो मैं स्वयं भेंट चढ़ जाऊँगी ।

इसी तरह की पूजा करके ‘उनका’ मान बढ़ाऊँगी ॥

अपने निर्मल मानस का मैं ‘उनको’ हंस बनाऊँगी ।

भाँति-भाँति के कौतुक करके ‘उनका’ चित्त धुराऊँगी ॥



उनके ॥ दरवाजे अर्घ्य मैं भीख माँगने जाऊँगी ।

संगमुख जाकर उत्तम स्वर से प्रेम-पुकार लगाऊँगी ॥

प्रेम-अधु-मुक्ताओं का मैं सुन्दर हार बनाऊँगी ।

महि-भाव से, सरल स्नेह से ‘उनको’ ही पहनाऊँगी ॥

तारादेवी जी की निम्नलिखित पंक्तियों में उनका जो विपाद-प्रस्त वया भावकतापूर्ण स्वरूप अंकित हुआ है वह भी हृदय-स्पर्शी है:—

आज अचानक मुझे था गयी, अपनी प्रिय माता की याद ।
निकल पड़े मेरी आँखों से, अदिरत्न आँसू उसके याद ॥
मानो कोई यह कहता हो, अब न मिलेगी प्यारी माता ।
इसी लिए तो आज मुझे अब, और नहीं है कुछ भी भाता ॥

यह होती इस समय यहाँ, तो करती मेरा बहुत दुलार ।
मैं थी उसकी सुता लादिलो, हाथ लुट गया मेरा प्यार ॥
मैया ! जब से होश सँभाला, देख नहीं मैं पायी तुम्हको ।
मन में उठता प्रश्न यही है, छोड़ दिया क्यों तुने मुम्हको ॥

सुनती हूँ जब शब्द किसी के, मुख से मैं मेरी प्रिय माता ।
प्यारी माता कहने को हा ! मेरा भी है जी ललचाता ॥
क्या अपराध किया था मैंने, त्याग दिया जो तुने मुम्हको ।
सोच तनिक तो अपने मन में, यही उचित क्या था मैं, तुम्हको ॥

त्याग किया जब मेरा तुने, तनिक न आया था क्या ख्याल ।
हाथ, सोच क्यों लिया न मन में, होवेगा क्या इसका हाल ॥
यद्यपि पितृ-पदों का मुम्हको, मिसा यथोचित शुद्ध सनेह ।
बिना मातृ भमता के वह भी, उतना नहीं मोद का गेह ॥

मन में सोचो, मुझे छोड़कर, हाथ तुम्हारे क्या आया ।
जननी होकर, जनकर मुम्हको, क्यों नाहक ही तलफाया ॥
माता होतो तो क्या होता, यह अभिलाषा रहती है ।
मन कहता है, वृथा हाथ ! क्यों, इस प्रकार दुःख सहती है ॥

हा ! हा ! कितने प्यारे बच्चे, मातृ-स्नेह से वंचित होंगे ।
 होंगे जो अज्ञात उन्हें तो, दुख ही सारे वंचित होंगे ॥
 जिनको होगा ज्ञान ज़रा भी, पाते क्लेश दुखी वे होंगे ।
 करते होंगे याद निरंतर, समझ-समझकर रोते होंगे ॥

यद्यपि 'मा' के मुख से वंचित, और न माता का है ध्यान ।
 तो भी यही लालसा मन में बारूँ उस पर तन मन प्राण ॥
 नहीं तुम्हें मैंने देखा है, देखा चित्र तुम्हारा है ।
 इसी लिए तो आज यह रही, सतत स्नेह की धारा है ॥

मन में उमड़े स्रोत प्रेम का, कभी न मुख से प्रकट कहे ।
 प्रेम उसी को कहते हैं जो, बसे दूर या निकट रहे ॥
 जो कुछ अनुचित बातें कह दीं, उन्हें ध्यान में मत लाना ।
 कभी-कभी हे श्रव ! स्वप्न में, अपने दर्शन दे जाना ॥

कवित्व-शक्तिसम्पन्न होने पर भी इस देवी ने जीवन में आनन्द
 और सुख नहीं पाया । दो ही तीन वर्ष की अवस्था में इनकी
 माता का स्वर्गवास हो गया । पाठकों ने ऊपर श्रीमती तारा देवी
 की कुछ पंक्तियों में माता के अभाव से उत्पन्न वेदना देखी है ।
 यह वेदना कल्पना-जनित नहीं, दैनिक जीवन की अनुभूत
 वेदना है ।

खेद है, इस होनहार, प्रतिभाशालिनी और भावुक कवयित्री का
 स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता । नैनीताल के सुयोग्य डाक्टर श्रीयुत्

पुरुषोत्तम पांडेय एम्० बी० वी० एस् आप के पति हैं, फिर भी अस्वस्थता के कारण आप का विवाहित जीवन सुखमय नहीं हो सका। वर्तमान समय में भुआली के सैनेटोरियम में आपकी चिकित्सा हो रही है। ईश्वर आप को स्वस्थ और दीर्घायु करें।



रामेश्वरी देवी गोयल



कुमारी रामेश्वरी देवी गोयल का जन्म ११ फरवरी सन् १९११ में भाँसी में हुआ था । आपने सन् १९३२ में प्रयाग विश्व-विद्यालय से एम० ए० की परीक्षा पास की । वर्तमान समय में ये स्थानीय आर्य्य कन्या-पाठशाला की प्रधान अध्यापिका हैं । आप की उच्च शिक्षा और आपके उन्नत, परिमार्जित राष्ट्रीय विचार अधिकांश में आपकी सुयोग्य माता ही के प्रयत्नों के परिमाण-स्वरूप हैं । आपका समय पठन-पाठन, काव्य तथा संगीत की आराधना ही में व्यतीत होता है । अभी तक आपने अपनी कविताओं का कोई संग्रह नहीं प्रकाशित कराया है, इसका कारण शायद यही हो कि गत वर्ष तक आप छात्रावस्था ही में थीं । आशा है, निकट भविष्य में काव्य की ओर आपकी विशेष प्रगति का परिचय पाठकों को देने का अवसर हमें मिलेगा ।



कुमारी रामेश्वरी देवी गोयल

कुमारी गोयल ने अपनी पंक्तियों में नायिका और नायक के जो चित्र प्रस्तुत किये हैं उनमें मनोहरता है । उनकी नायिका कहती है :—

किया था जिसे हृदय से प्यार,
अनूपम था मेरा अनुराग ।
छिपा उर के पट में चुपचाप,
लिया—अपना जब उसको हाथ !

निकालूँ कैसे घर से द्वार ?
आज निज भावों का शृंगार ।
वही थी एक निराजी साध,
भावनाओं का सुफलागार ।

वही था गर्व, वही मद-राग,
वही था पीड़ा का उपहार ।
भुला वूँ कैसे उसकी याद ?
गिने थे तारे सारी रात ।

× × ×

दुलफले आँसू का प्रतिबिम्ब,
देख विचलित मत होना आज;
बहा देगा अपने ही साथ—
तुम्हारे धैर्य का मुक्त-स्वाद ।

याद रखना मेरे उद्भ्रान्त—
 प्यार का, जीवन का इतिहास ।
 इन्हीं में सरस दिनों की छाप,
 हाथ ! रोने में बदला हास्य ।

नहीं हैं आँसू, मेरे, नाथ !
 व्यथार्थों की माला का ढेर ।
 आज टूटा है मेरा स्वप्न,
 न हो जाऊँ निर्धन, मैं आह !
 + + +

तुम्हारी संजीवन मुस्कान, जगा देती मद का संसार ।
 पुलक, भावुक, नभ भी अनजान, लुटा देता अपना भ्रंगार ॥
 लुभा लेता तटस्थ के प्राण, बिछा मायावी मुक्त-जाल ।
 घना देता पागल-सा कौन, व्यथा की अविकल मदिरा ढाल ॥
 श्रमित कलियों का कोमल गान, दूँ देता व्याकुल हो विभ्राम ।
 सुला लेता सुधांशु निज अङ्ग, बिछाकर शीतलसा अभिराम ॥

५

५

५

तुम्हारा भोला सा उपहास,
 भेद जाता जब तन मन प्राण;
 अधर की रिफली से मुस्कान,
 नयन छलका देते नादान ।

अरे अनजान प्रेम का मोल
मधुरिमा मय विकसित अनुराग;
समझ, सौंपा सर्वस, सुकुमार,
आह ! पीड़ा दी किमने घोल ?

समझकर किसने उसे ठगोल ?
किया विरिच्छ दोन निर्मोत्य;
अरे उस प्रेमी की उद्भ्रान्त—
'चाह की आह' हाय ! दी गोल !

राग से सीसा आज विराग,
हास्य का मृदु अवगुण्डन आज;
वेदना सिसक-सिमककर हाय,
न जर्जर कर दे यह अभिसार !

गूँज जाये सब यह परिहास,
पिपल हल सो जाये विश्राम ।
कहीं या फिर तेरा आभास,
न उठ जाये यह ललक ललाम ।

कुमारी गोयल की नायिका में विचित्र भाव-मग्नता और पीड़ा है। अपने वेदना-रहस्य से परिचय प्राप्त करने के इच्छुक से उसका पढ़ना है:-

गुनमे की उम्कड़ा क्यों, पीड़ा की अरुण कदाती ।
पीपे से पतनासोगे, बैसा भी यह नाशनी #

भोले थे पथिक ! न तोड़ो, मेरे जीवन की लदियाँ ।
 उलझी ही रहने दो अब, दुखिया जीवन की घड़ियाँ ॥
 उन शीसू की झड़ियों को, संचित यदि अब कर पाऊँ ।
 एक-एक बूँद में मैं तब, तुमको वह चित्र दिखाऊँ ॥
 मेरे जीवन-दीपक का, हो चला तेल खाली अब ।
 उनसे कहना तुम जाकर, ले आओ निज थाती शय ॥

❧

❧

❧

बलि दे चाहों की निष्ठुर ! आशा की आहुति देकर ।
 कोमल फलिका को कुचला, तेरी निर्दयता लेकर ॥
 उर की बढ़ती लपटों को, चाहा कर मैं ले माँधूँ ।
 थोड़े से अश्रु पिन्हा के, नयनों में जीवन साँधूँ ॥

नीचे की पंक्तियों में कवि ने नायिका के भग्न हृदय का विपाद-पूर्ण चित्र अंकित किया है:—

मिलमिल करते थे तारे, आशा के सुने नभ में ।
 मलयानिल-सी निश्वासें, उठती थीं शंतस्तब्ध में ॥
 उर की निरंत पीड़ा ने, सोता उन्माद जगाया ।
 अपने कंपित हाथों से, वीणा को शान उठाया ॥
 हाँ, तार सभी उसमें थे, निर्दय ! तूने क्यों तोड़ा ?
 ज्यों-त्यों मैंने फिर उसको, फर यत्न यद्बल, था जोड़ा ॥
 उन शीशुओं की मदिरा से—भरकर अबदात बटोरा ।
 हाँठों तक ही लाई थी, तूने आ क्यों झकझोरा ?

बजती कैसे अब चीन्हा ? दृष्टी ध्वनि निपटली उससे,
हो खिन्न, दिया मैंने भी—रस दूर उसे निज कर से ।
वह जीवन का जीवन थी, प्रतिध्वनि करती थी निशदिन,
बैठा रोता है अब तो यह भग्नहृदय उसके बिन !!

नायिका के हृदय में सूनापन है । वह डरती है कि कहीं उसकी
'चिर साथिन' बनने के लिए आने वाली वेदना इस सूनेपन के भय
से चली न जाय—

झाला है तुमने आसन, पीढ़े ! यदि मेरे डर में ।
हो दिखलाती निज सूरत, मुझको नित अधु-मुकुट में ॥
स्वागत करती हूँ तेरा, देती आशीष हृदय से ।
पर छोड़ फही मत जाना, इस सूनेपन के भय से ॥
क्या बनती हो चिर साथिन, मेरा सौभाग्य बड़ा है ।
जीवन तुम ही पर मेरा, बलि होने को मचला है ॥
सुख आया था इस गृह में, पलमें भागा वह रोककर ।
धन दे झाला सब अपना, आँखों की लहरियाँ पोकर ॥
कैसा वह हर्ष अहा था, कल्पनावशेष बची है ।
उन्माद वेदना की ही, अबतो बस धूम मची है ॥
तुम पीड़ित हो चल दोगी, मुझको बस छोड़ अकेला ।
रोती ही रह जाऊँगी, स्वप्नों से उठती बेला ॥

निराशा के घने अंधकार में यह नायिका आशा की ज्योति
के लिए लालायित होकर कहती है:—

भोले ऐ पयिक ! न तोड़ो, मेरे जीवन की लदियाँ ।
 उलझी ही रहने दो श्रम, दुखिया जीवन की घड़ियाँ ॥
 उन आँसू की झड़ियों को, संचित यदि श्रम कर पाऊँ ।
 एक-एक बूँद में मैं तब, तुमको वह चित्र दिखाऊँ ॥
 मेरे जीवन-दीपक का, हो चला तेल खाली श्रम ।
 उनसे कहना तुम जाकर, ले आओ निज थाती श्रम ॥

❧

❧

❧

बलि दे चाहों की निष्ठुर ! आशा की आहुति देकर ।
 कोमल फलिका को कुचला, तेरी निर्दयता लेकर ॥
 उर की यदसी लपटों को, चाहा कर मैं ले बाँधूँ ।
 थोड़े से अश्रु पिन्हा के, मननों में जीवन साधूँ ॥

नीचे को पंक्तियों में कवि ने नायिका के भ्रम हृदय का विपाद-
 पूर्ण चित्र अंकित किया है:—

झिलमिल करते थे तारे, आशा के सुने गम में ।
 मलयानिल-सी निश्वासें, उठती थीं अंतस्तल में ॥
 उर की निरंत पीड़ा ने, सोता उन्माद जगाया ।
 शपने कंपित हाथों से, भीणा को आन उठाया ॥
 हाँ, तार समी उसमें थे, निर्दय ! तुने क्यों तोड़ा ?
 ज्यों-क्यों मैंने फिर उसको, पर धरन बहुत, था जोड़ा ॥
 उन आँसू की मदिरा से—भरकर अवदान पटोरा ।
 होंठों तक ही लाई थी, तूने आ क्यों झकझोरा ?

यजती कैसे अब बीया ? दूरी ध्वनि निफली उससे,
हो खिन्न, दिया मैंने भी—रख दूर उसे निज कर से ।
यह जीवन का जीवन थी, प्रतिध्वनि करती थी निशदिन,
बैठा रोता है अब तो यह भग्नहृदय उसके चिन !!

नायिका के हृदय में सूनापन है । वह डरती है कि कहीं उसकी
'चिर साथिन' बनने के लिए आने वाली वेदना इस सूनेपन के भय
से चली न जाय—

ढाला है तुमने आसन, पीड़े ! यदि मेरे उर में ।
हो दिखजाती निज सूरत, मुझको नित अश्रु-भुङ्कर मैं ॥
स्वागत करती हूँ तेरा, देती आशीष हृदय से ।
पर छोड़ कही मत जाना, इस सूनेपन के भय से ॥
क्या बनती हो चिर साथिन, मेरा सौभाग्य बढ़ा है ।
जीवन तुम ही पर मेरा, बलि होने को मचला है ॥
सुख आया था इस गृह में, पल्लवें भागा वह रोकर ।
धन दे ढाला सब अपना, धाँसों की लदियाँ पोकर ॥
कैसा यह दर्प अहा भा, कल्पनावशेष बची है ।
उन्माद वेदना की ही, अबतो बस धूम मची है ॥
तुम पीड़ित हो चल दोगी, मुझको बस छोड़ अकेला ।
रोती ही रह जाऊँगी, स्वप्नों से उठती बेला ॥

निराशा के घने अंधकार में यह नायिका आशा की ज्योति
के लिए लालायित होकर कहती है:—

अभागे की आशा-उदन्त, पिघलते ओसों के-से बिन्दु ।
 न कर उपहास निठुर उदन्त, राग ही तो मम जीवन-इन्दु ॥
 निराशा को विकसित मुसकान ! न कर मेरी आशा का अन्त ।
 स्मृति-ही जीवन का आधार ! नयन में रहता ओत अनन्त ॥
 निराशा मम आशा की ज्योति ! देखने को तेरी इक रेख ।
 छिपाती है मानस के बीच ! बीच में लुप्त न होना देख ॥

कुमारी गोयल ने निम्नलिखित पंक्तियों में अपनी नायिका के
 जैस रूप का अंकन किया है, वह भी हृदयस्पर्शी है ।

... निराली साध !

विकल मानस का अविचल राग,
 अरी मतवाली !
 देव दुर्लभ अभिलाप—
 विषम उपहास;
 नहीं वह पीड़ा से झाली ।

... निपट अनजान !

वृथा, मत करना अभिमान,
 अरी अचिन्तित !
 हृदय वन जायेगा रमशान,
 छोड़ दे आन !
 न खो जाये निधि संचित !

.....सुनहला प्यार—

मधुरतम जीवन यह, कटुभार—

बनेगा, भोली !

नवल विकसित कलियों के साथ,

हृदय कर चार

जलेगी प्राणों की होली”

× × × ×

.....साधन मृदुल

अधल है जीवन का संकल्प

लालसा भारी

किन्तु दुकराना मत वह चार,

प्यार का सार,

अरे, निष्ठुर व्यापारी !

कुमारी गोयल की कविता में उक्त वेदना के अतिरिक्त कहीं-कहीं देश-प्रेम के भाव भी हैं । शक्ति का आवाहन करती हुई वे कहती हैं:—

आशा-हीन दलित पढ़े जो दीन भूतल में,

जीवन की ज्योति नय्य उनमें जगाती तू।

शोक-नत भारत के भव्य भाल को समोद,

शान्ति का पद के पाठ धीरे से उग्राती तू।

त्याग का बनाके मंत्र, धैर्य का सिखा के तंत्र,
देशवासियों को आज योगी है बनाती तू ।

देकर सुबुद्धि 'शक्ति' भग्न-भारतीयता की,
विजय-पताका देवि ! आज फहराती तू ।





श्रीमती विष्णुकुमारी श्रीवास्तव 'मंजु'

विष्णुकुमारी श्रीवास्तव 'मञ्जु'

श्रीमती विष्णुकुमारी श्रीवास्तव 'मञ्जु' का जन्म एक प्रतिष्ठित फायस्थ-परिवार में ४ अगस्त, सन् १९०३ ई० में हुआ था । प्रतिकूल परिस्थितियों से घिरी होने पर भी आपने अपने विद्या-प्रेम के द्वारा हिन्दी में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली । आप पद्य और गद्य दोनों लिखने की क्षमता रखती हैं । पारिवारिक विपत्तियों ने आपके हृदय को बड़ी ठेस पहुँचाई है । आप की कविताओं पर भी आपकी वेदना की गहरी छाप है । आपने अपनी भावुकता के रंग से जिन नायक-नायिका-चित्रों में रंग भरा है, उनमें संतोषजनक माधुर्य है ।

एक निराश नारी का चित्रण देखिए:—

आशा के भग्न भवन में, प्राणों का दीप जलाये ।

उसुक हो स्वागत-पथ पर, बैठी थी ध्यान लगाये ॥

उठती तरङ्ग-माला में, शरदिन्दु-किरण फैसती थी ।
 हिलती, मिलती, हठलाती, पगली सरिता हँसती थी ॥
 थे नील गगन में तारे, मुक्ता का तार पिरोते ।
 मेरी सूनी कुटिया में, आँखों से भरते सोते ॥
 है स्नेह-सिन्धु उफनाता, सर्जर है तरणी मेरी ।
 क्या कभी लगेगी तट पर, जब छाई रात अँधेरी ॥
 प्रियतम ! क्या भूल सकूँगी, सूनेपन में तुम आये ।
 सुरभित पराग को लेकर, कलियों के दल बिखराये ॥

किसी विचित्र गायक से श्रीमती जी का कथन है:—

गायक कौन राग है गाया ?

दूदी धीखा के तारों को फिर से आज मिलाया ।
 तन मन प्राण सभी व्याकुल है, कैसा स्वर लहराया ?

गायक यह क्या-स्वर लहराया ?

दूटे बन्धन, पिया हलाहल, सूखा तब हरिआया ।
 छूट रहा जग, भूला जीवन, यों उन्मत्त बनाया ॥

गायक कैसा स्वर-लहराया ?

यौवन के थे सुख सपने थे सपने हों या छाया ?
 नव धीखा थी मृदु कम्पन में, यद पट राग बजाया ।

गायक कौन राग था गाया ?

जला दीप वह मुक्त पंतग का, जिसको आज जगाया ?
 मुक्ता नहीं, जल, जल, बुझने दे, आया समय, सुनाया ?

गायक कैसा राग बजाया ?

लुटे विश्व में, अन्धकार है, शोक-सिन्धु उफनाया ।

ढाँढ़ एकद जे, पार लगादे, जीवन-पोत घुमाया ।

गायक आज राग क्या गाया ?

एक सार है, पुनः मिलन है, सोती व्यथा, उठाया ।

हृदय सार पर करुण राग में, कौन गीत है गाया ?

गायक हाय आज क्या गाया ?

सदा तुम्हारे, रहे तुम्हारे, नाथ नहीं, क्या पाया ?

छोड़ो नहीं, देव ! आती हूँ, कहो, नहीं हूँ जाया ।

हा ! क्यों कहते, थो जाया ।

गायक कहो नहीं थो जाया ॥

श्रीमती 'मञ्जु' की निम्नलिखित पंक्तियों में देश की दशा के प्रति व्याकुल उद्गार भी देखने योग्य हैं:—

आह ! आज कितनी सदियों पर, आई हो माँ ! इस कुटीर में ।

बोलो तुम्हें अर्घ्य दूँ कैसा ? उड़े विभव कण-कण समीर में ॥

क्यों माँ ! कैसे भूल सकी थी, विजित आर्य-सन्तानों को ।

अरी निष्ठुरे ! निर्मल होकर मसल दिया अरमानों को ॥

भूत-भव्यता आर्य-भूमि की, अरी शक्तिदा ! भूल गई क्यों ।

समर-रंगिणी ! नष्ट-तेज क्यों ? बिरव-वीरता लुप्त हुई क्यों ॥

ओ माँ ! जब तुम मिल प्रताप से, आई थीं हँसकर प्रभाव में ।

चमक गिरी असि तद्विज्ज माज सी, गगन भाज से शत्रु-गीत में ॥

वे दिन हाथ ! हुए सपने से, हुई निधन हम इन्त आस में ।
विगत शक्ति क्या था न सकेगी, पुनः हमारे चन्द्रहास में ?

श्रीमती जी से साहित्य के क्षेत्र में हमें बहुत कुछ आशा है ।
हमें पूर्ण विश्वास है कि जैसे वे अपनी अनेक बाधक परिस्थितियों
पर विजय प्राप्त करके साहित्याराधना की ओर अप्रसर हुई हैं,
वैसे ही अपनी अन्य समकक्ष बहनों की कठिनाइयों के निराकरण
में उद्योगशील होकर, वे इस एक अन्य मार्ग से भी, हिन्दी-साहित्य
की सेवा कर सकेंगी ।





श्रीमती रत्नकुंवरि देवी

रत्नकुर्वरि देवी



मध्यप्रान्त के रत्न, जयलपुर-निवासी श्रीमान् सेठ गोविन्ददासजी ने अपने प्रदेश में हिन्दी का प्रचार करने में यथेष्ट भाग लिया है। उन्होंने 'वाणसुर पराभव' नाम का एक प्रबंधकाव्य, अनेक वर्ष हुए, लिखा था। रोद है, अन्य कार्यों में व्यस्त हो जाने के कारण सेठजी काव्य-रचना की ओर से उदासीन हो चले। ऐसी अवस्था में यह संतोष की बात है कि उनकी सुयोग्य पुत्री श्रीमती रत्नकुर्वरि देवी ने अपने पिता का स्थान लेकर उनकी लेखनी की निष्क्रियता से होनेवाले अभाव की पूर्ति का उद्योग करना आरम्भ कर दिया है।

श्रीमती रत्नकुर्वरि अल्पवय ही में संस्कृत की काव्यतीर्थ परीक्षा में पारंगत हुईं। थोड़े ही समय से उन्होंने काव्य-रचना का आंगणेश किया है। उनमें कवि-प्रतिभा विद्यमान है और यदि वे

इस क्षेत्र में निरन्तर संलग्न रहेंगे तो, आशा है, कुछ स्थायी महत्व का कार्य भी कर सकेंगे ।

श्रीरत्नकुवैरि द्वारा अंकित विप्रलब्धा नायिका का चित्र देखिए:—

जीवन के उस उपाकाल में, कैला या जब नव आलोक ।
 सुगंध हुई मैं मधुमय तेरा, मुखका भोला सा आलोक ॥
 प्रयत्न मोह ने बना दिया था, हाथ ! मुझे इतनी अनजान ।
 पहिले पात्र-परख की जाती, पीछे उचित उसे है दान ॥
 विस्मृत कर इस उचित नीति को, मूढ़ अचने मणि-राशि समेट,
 तेरे रुचिर चरण कमलों में—बिस्तराची मैंने यह भेंट—
 पर यह क्या हुआ अचानक—तेरे मुख का कैसा रंग !
 वह माधुर्य और भोलापन—क्या ये केवल कृत्रिम रंग !
 निहुर ! रूप धारणकर ! तूने उन्हें जोर से ठुकराया ।
 उछल गिरीं वे मणियाँ सारी, जिन्हें नहीं फिर लख पाया ॥
 हाथ !—कि सब धोखा दे तूने, किया मुझे सर्वशक्ति-विहीन ।
 क्या इस दुनियाँ में कोई है मुझ-सी भवला सरला दोन ॥

इस देवी में प्रकृति के प्रति अनुराग की सूचक निम्नलिखित पंक्तियाँ आकर्षक हैं:—

ईश ! तब तो भ्रान्त ये पद-ग्रान्त हैं;
 लगन से विजड़ित बने क्रम ह्रान्त हैं ।

किन्तु करना पार है गिरि ! है तुझे,

क्या कहे ? कह दीर्घकाय ? यता मुझे ॥

भोम भारी रुच कृष्ण पदे-कदे,

उपल तेरे अङ्ग पर अगणित पदे ।

है कहीं प्राचीर-सी तर-ध्रेणियाँ,

झाँदियाँ हैं गुण गईं ज्यों बेधियाँ ॥

कहीं कंटक कीर्ण गर्त मदे-मदे,

विविध धन के हिंस्र जन्तु कहीं खदे ।

सामने ही यह दरी तेरी पड़ी;

क्या यहाँ देखूँ जरा होकर खड़ी ?

हृदय तो तेरा अहो ! वय से भरा,

आद' शीतल है यहाँ की तो धरा ।

नील नीरज नेत्रद्वय सरसा रहे ।

अलि मृदुल गुंजन अवयव-सुख पा रहे ॥

भीर भर मग्धर समीरण घूमकर,

कमलिनी के पारव से आ झूमकर ।

आम्नि मेरी साथ में ले जा रहा,

शक्ति नव इस अङ्ग में है ला रहा ॥

मधु मिले से मिष्ट पय का पानकर,

सुधा के सम सारगर्भित जानकर ।

सकेंगे चल चरण द्विगुणित चाल में,

तब अतिक्रम अब सरल कुल फाल में ॥

वाद्य आकृति तो भयावह गिर थहो !
 किन्तु तव अन्तर सरस कैसे कहो ?
 धन्य हैं वे दृढ़व्रती प्रण में अटल ।
 नेत्र जिनके स्नेह से रहते सज्जल !

निम्नलिखित कविता में रत्नकुँवरिजी की मौलिकता की
 झलक मिलती है:—

न कलंक बने
 रवि-रश्मि-जनित गुरुताप तपे
 पथ दुर्गम पर चल आन्त हुआ;
 मुग्ध ग्लान शिशिरहत पंकज-सा
 तव बगड गृपातुर झान्त हुआ ।

छल-छलकर छलक रहा रस-स्रोत
 प्रतिक्षण नूतन स्वाद लहे;
 यह मोहक मानस-पूर्ण पदा
 रसपान करो, पर याद रहे—

तव भूलभरे पद, पथिक, नहीं
 इस निर्मलता के अंक सने;
 वन पंक धूज इन धारणों की,
 इस मानस का न बलक बने ।



लीलावती भँवर 'सत्य' ❀ ❀

कुमारी लीलावती भँवर ने सन् १९३१ ई० में हिन्दू-विरव-विद्यालय से एम्० ए० पास करने के बाद साहित्य-सेवा के क्षेत्र में पदार्पण किया है। आप देहरादून की महादेवी-कन्या-पाठशाला में अध्यापिका हैं।

लीलावतीजी के नारी-चित्रों में माधुर्य है। उनकी नायिका अपने प्रियतम से कहती है:—

माथों के दीप जलाये, फव से पथ हेर रही हूँ;
भायों के मुमन मनोहर तब आज बिलेर रही हूँ।
श्वासों की धूप बनाकर जीवन मैवेद्य बनाया;
तब घरणों की पूजा को मैंने है साज सजाया।
आम्हो, चिर-संचित मेरी यह साध पूर्ण होने दो;
निज पद्-रत्न में हे प्रियतम ! अपना मन खोने दो।

×

×

×

फुलवारी में मैं आई, लख उपा का मुसकाना;
 फिर देखा ओस-बिन्दु मिस पुष्पों का अश्रु गिराना ।
 नतन लख मुग्ध शिखी का मैंने नभ ओर निहारा;
 निष्प्रभ भीरद-बाला के नयनों से छुटा छुहारा ।
 नभ छाना, पृथ्वी खोजी, पर चिन्ह न कुछ भी पाया,
 हा ! आज बिलखती-रोती मेरी आशा की छाया ।
 कर चूँ सही अभिलाषा ये प्राण उन्हें ध्यावेंगे;
 दूँगी अस्तित्व मिटा निज, फिर देव स्वयं ध्यावेंगे ।

❀

❀

❀

जग के मुठे वैभव को, लेकर क्या नाथ करूँगी मैं ।
 तुम्हलाये आशा-कुसुमों से, पुनः न अङ्क भरूँगी मैं ॥
 रोम-रोम में रमो तुम्हीं नित-नाम तुम्हारा ही गाऊँ ।
 इच्छा है यत यही, तुम्हारे-घरणों की रज बन जाऊँ ॥

❀

❀

❀

देकर दर्शन चाहे प्रियवर, तुम हमको कृतकृत्य करो ।
 अथवा रहकर दूर-दूर ही, नित्य हृदय को व्यथित करो ॥
 इच्छा हो तो जीभरकर तुम, नित मेरा अपमान करो ।
 अथवा होकर सद्य प्रेममय, प्रकट मधुर मुसकान करो ॥
 दुख देने में सुखी रहो यदि, तो तुम नित नव दुख देना ।
 किन्तु न स्वत्व हमारा तुम यह, हमसे कभी छीन लेना ॥
 होगा ग्लान नहीं मुरा मेरा, चाहे जो व्यवहार रहे ।
 रक्षूँगी मैं मनमन्दिर में, पूजा का अधिकार रहे ॥

निम्नलिखित पंक्तियों में लीलावतीजी के जिस संकल्प की सूचना मिलती है, वह सराहनीय है:—

जग के इन सुख-स्वप्नों की है,
कुछ भी मुझको चाह नहीं।
आज विदा मायाविनि आशे,
उर में तेरी राह नहीं।

विपुल विघ्न बाधाएँ आएँ,
फूल-सदृश स्वागत होगा।
समय पड़े पर फाँसी का भी,
हँस-हँस आर्त्तिगन होगा।

माता के प्रिय पद-पत्रों पर,
जीवन का यह सुरभित फूल।
आज समर्पण करने को,
आयी हूँ अपनी सुध-बुध भूल।



अवशेष

जिन देवियों की काव्य-रचना की चर्चा की जा चुकी है उनके अतिरिक्त कुछ और भी हैं जो इस क्षेत्र में प्रवेष्ट कर रही हैं और जिनसे, निकट भविष्य में, बहुत कुछ आशाएँ हैं। इनमें श्रीकमलाकुमारी, श्रीचन्द्रकला, श्रीमती सुन्दरकुमारी, श्रीमती विद्यावती 'कोविल' और कुमारी शान्तिदेवी का नाम विशेष उल्लेख-योग्य है। इनका रचनाएँ 'हंस,' 'सरस्वती,' 'चाँद' आदि मासिक-पत्रों में प्रकाशित हुआ करती हैं। पाठकों के अवलोकनार्थ इनकी कृतियों का एक-एक नमूना यहाँ दिया जाता है:—

[१]

आंसू

नयन-फरात के मन्त्रुल, मोती,

भग्न हृदय के मृदु-उद्गार;

नील-कमल में तुहिन-बिन्दुसे,
नयनों के प्रिय मुक्त-हार

ढलकते गालों पर दिन-रात,
लिये नव-पीड़ा का आभार;
चढ़ाते प्रियतम-हित अज्ञात,
गूँधकर अभु-कणों का हार,

उमड़ पड़ता है हृदयोद्गार,
उसाँसे और दीर्घ निरवास;
सजल आँखों में मेघाकार,
धारसते हैं वन सुरसरिधार ।

हृदय में करता मृदु-आघात,
प्रणय का वह प्यारा मधुमास;
नहीं लक्ष पड़ता सजल प्रभात,
वेदना का रहता है यास ।

हमारे मूक रुदन का सार,
समझता है क्या जड़ संसार;
आसुओं का यह सुरभित हार,
चढ़ाती हैं 'मू' को उपहार;

विरह में कैसी दाहक आग,
और स्मृति में मादक अनुराग;
हुआ जगती से विषम विराग,
हृदय में रही वेदना जाग ।

यही मेरी अंतिम अभिलाष
कि इन नयनों के मुक्ताहार;
चढ़ा प्रिय पद-पत्रों पर आज,
मिले मुझको भी जीवन-सार,

—कमलाकुमारी

[२]

लङ्कादहन

एक धोर ज्वाला जय पूँछ में लगाई गई,
अन्य ओर दानवों की छाती आग धरकी।

कूद के धरा से कपि जा रहा अटा पै एक,
दूसरी अटा की छटा साथ छोड़ सरकी।
अपना-विराता-ज्ञान पल में विलीन हुआ,
मूर्खता किसी को थी न पाद की, न घर की।

लपकी लपाक से लपक हृद्यवाहन की,
धमकी धमक से सुसदृश चामीकरकी।

—चन्द्रकला

[३]

उत्कण्ठिता

सब तुमसे बिहँस रहे हैं—मैं नहीं बोलने पाती।
मेरी ये प्यामी आँखें—हैं सरस-तरस रह जाती॥
मैं घटा चुड़ी चरखों पर—संचित सुमनों की दाली।

मृग-जल पल-पल मुझे छल रहा;
धरा सहित आकाश चल रहा;
तन-भन-दाहक अनल जल रहा;
सन सन सन सन पवन चल रहा;

सृज की तीली किरणों से अधिक उष्ण उच्छ्वास ।

प्रातः से यात्रा पर चल दी;
भूल गई पथ चलती चलती;
निर्जन घन में फिरी भटकती;
आई शान्त-सिन्धु-तट तपती;

रे भविष्य की भान्ति ! जेब मत, ले जेबें दे खूँ दे ।

—कृष्ण गोविन्द

हमें आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि इनके द्वारा
काधिक संख्या में काव्य-रचना की जायेगी और वे
ऐसी अवस्था में हम उनकी सेवा में होंगे कि हमारे
आवश्यकता का अनुभव करते हैं ।

उत्तर है—नहीं। इनकी पंक्तियों में काव्य-कला का जो थोड़ा-बहुत विकास देखा जाता है वह मानवहृदय को मोहित करने की शक्ति भले ही रखता हो, किन्तु उसमें व्यक्तित्व को विकसित करने का सामर्थ्य नहीं है।

हिन्दी-साहित्य का वर्तमान काल हिन्दी-काव्य का उन्नत स्वरूप हमारे सम्मुख नहीं रखता; उसमें जिन भावों की अवतारणा की जा रही है उनमें अधिकांश में शक्ति का अभाव है और चित्त में विरक्ति उत्पन्न करनेवाली ऐसी सारहीन भावुकता है जो न किसी व्यक्ति का उपकार कर सकती है और न किसी समाज का। देवियों का इस काव्य-प्रवाह के अनुसरण से भी विशेष लाभ न होगा, और अधिक आशंका तो इस बात की है कि उनकी हानि होगी।

हमारा अनुरोध है कि देवियाँ काव्य-रचना में नायक-नायिका के चित्रों के अंकन में विवेक से काम लें। दुर्बल शिशुओं की उत्पत्ति जैसे भौतिक जगत् में विपाद और कुशहो का कारण होती है वैसे ही कला के क्षेत्र में निस्सार, तत्वहीन मानसिक सृष्टियों से भी किसी कल्याण की आशा नहीं की जा सकती। यदि हमसे पूजा जाय कि देवियाँ किसका अनुसरण करें तो हम तो यही निवेदन करेंगे कि मीराँ के चरण-चिन्ह ही उनके पथ-प्रदर्शक होंगे और यदि मीराँ की शक्ति उनके पास न हो, तो वे श्रीप्रतापकुँवरि, श्रीगिरिराजकुँवरि, श्रीराजरानीदेवी, श्रीसुमद्राकुमारी चौहान और श्रीमहादेवी वर्मा ही के दिखाये पथ पर चलने का उद्योग करें।

देवियों की रचना का मान-दण्ड ऊँचा होने से एक बहुत बड़ा लाभ यह होगा कि पुरुष-कवियों की रचनाओं में से भी अप्रकृत भावुकता का लोप होने लगेगा, जिसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि समाज में नारी और पुरुष के सार्वजनिक निरापद सम्मिलन का जो आधार सहस्रों वर्षों से नष्ट हो गया है और जिसको प्रतिष्ठा राजनैतिक क्षेत्र में करने का एक क्षीण उद्योग किया जा रहा है वह साहित्यिक क्षेत्र में स्थापित होकर धीरे-धीरे सम्पूर्ण समाज को प्रकृत विकास की ओर अग्रसर करेगा ।

—समाप्त—



